Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 30, अंक 2
जुलाई-दिसम्बर, 2016

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 30, अंक 2
जुलाई–दिसम्बर, 2016

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान–सम्पादक

यशदेव शल्य
मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. अशोक वोहरा, सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

प्रधान-सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302019 दूरभाष 2294727/2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/–
संस्थाएं : रु. 100/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 1000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. भारतीय दार्शनिक वाङ्मय एवं मिथिला की न्याय–परम्परा 5
अरूण मिश्र

2. औपनिषद् आत्मवादी विचारधारा एवं रहस्यवाद 48
अरविन्द कुमार राय

3. अथ स्वतः परतः प्रामाण्यं परीक्ष्यते 57
अम्बिकादत्त शर्मा

4. कांट के दर्शन का तात्पर्य – IV 76
कृष्णचंद्र भट्टाचार्य
अनुवादक : मुकुन्द लाठ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है? क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय दार्शनिक वाङ्मय एवं मिथिला की न्याय-परम्परा

अरूण मिश्र

अपनी बात का समारम्भ मैं ए एल भासम द्वारा उनकी कालजयी पुस्तक 'द वन्डर दैट वाज इन्डिया' के उपोद्घात में उद्धृत छठी शताब्दी के महान सीरियन ज्योतिषी सेवेरस सेवोख्त की पंक्तियों से करना चाहता हूँ। ये पंक्तियाँ यहाँ अप्रासंगिक नहीं हैं, क्योंकि इन पंक्तियों से छठी शताब्दी में भारतीय ज्ञान–विज्ञान एवं संस्कृति का उत्कर्ष पर होना सिद्ध होता है।

"I shall not now speak of the knowledge of the Hindus,...of their subtle discoveries in the science of astronomy - discoveries even more ingenious than those of the Greeks and Babylonians - of their rational system of mathematics, or of their method of calculation which no words can praise strongly enough - I mean the system of nine symbols. If these things were known by the people who think that they alone have mastered the sciences because they speak Greek they would perhaps be convinced, though a little late in the day, that other folk, not only Greeks but also men of a different tongue, know something as well as they." (A L Bhasam, The Wonder That Was India, pg I, Picador)

यह पुस्तक उस सिरीज के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था जिस सिरीज में ग्रीस, इजीप्ट, रोम, और बेबीलोन की सभ्यताओं पर पुस्तकें प्रकाशित की गयी थीं, अतएव सिरीज के अन्य पुस्तकों के शीर्षक को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक के शीर्षक में भी 'वाज' पद का प्रयोग किया गया है। वैसे भासम अपनी पुस्तक के शीर्षक में प्रयुक्त भूतकाल बोधक 'वाज' शब्द से संतुष्ट नहीं थे। वस्तुतः शीर्षक में 'वाज' शब्द का प्रयोग प्रकाशक द्वारा उनपर थोपा गया था। यह तथ्य थॉमस ट्राउटमेन उस पुस्तक की अपनी प्रस्तावना में उद्घाटित करते हैं। ट्राउटमेन लिखते हैं कि भासम के अनुसार भारत में प्राचीन समय से अद्यतन सांस्कृतिक तारतम्यता बनी हुई है जबकि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ग्रीस, इजीप्ट, रोम और बेबीलोन की सभ्यता नष्ट हो चुकी है। इसीलिये इस पुस्तक के शीर्षक में भूतकाल वाचक 'वाज' शब्द के प्रयोग से भासम असंतुष्ट थे, और यही कारण है कि उन्होंने उपशीर्षक का प्रयोग किया है। ट्राउटमेन के शब्दों में – *"The first thing to be said about it has to do with the title, which was imposed upon him by the publisher, and about which Bhasam was slightly embarrassed." (Ibid, pg VIII)*

'भारतीय दार्शनिक वाङ्मय' पद का अभिप्रेत इतना अधिक विस्तृत है कि सम्पूर्णता में उस पर विचार करना संभव नहीं है, अतएव इस लेख को मैंने मिथिला में न्याय परम्परा के वाङ्मय तक ही सीमित रखा है। पुनः 2000 वर्षों के अन्तराल में लिखे गये सभी ग्रंथों को और सभी नैयायिकों को समेटना भी संभव नहीं है, इसीलिये विशेष कालखंड के प्रतिनिधि नैयायिकों का ही उल्लेख किया गया है। यदि पटना के बिहार–ओडिसा रीसर्च सोसाईटी के पुस्तकालय और दरभंगा के संस्कृत विश्वविद्यालय तथा मिथिला शोध–संस्थान के पुस्तकालयों में उपलब्ध पाँडुलिपियों की सूची ही बनाई जाय तो वही अनेक खंडों में होगी। अतएव इस लेख में मुझे स्वयं को सीमित करना अनिवार्य है।

मिथिला में न्यायदर्शन–वाङ्मय की दशा पर विचार करने से हम पाते हैं की सैकडों वर्षों की हमारी परतन्त्रता ने हमारी दार्शनिक एवं चिन्तन प्रक्रिया की प्रवृत्ति को इस तरह आघात पहुँचाया है कि इससे ज्ञान–विज्ञान के प्रति हमारी दृष्टि एवं गति दोनों ही बाधित हुई है। इससे भी अधिक विषादमयी छाया यह है कि समकालीन लेखन में विशेष रूप से साहित्य और इतिहास के क्षेत्र में भारत की पारम्परिक छवि शास्त्रों का अध्ययन किये बिना सुनी–सुनायी बातों के आधार पर प्रस्तुत की जा रही है। संस्कृत भाषा के ज्ञान के अभाव में या अध्ययन के प्रति निष्ठा के अभाव में दर्शन के छात्रों में भी मौलिक ग्रंथों के आधार पर भारतीय चिन्तन से सम्बन्धित लेखन करने की उदासीनता है। यदि यह उदासीनता नहीं होती तो उपलब्ध पाँडुलिपियों का सम्पादन हो गया होता और सम्पादित ग्रंथों के अनुवाद एवं व्याख्या भी उपलब्ध होते। मेरा आशय यह है कि पाठकों को भारतीय दर्शन एवं ज्ञान का जीवन्त चित्र प्राप्त नहीं हो रहा है। इस परिस्थिति में आवश्यकता है कि हम संस्कृत भाषा और शास्त्र–विशेष की भाषा का शिक्षा ग्रहण कर अपनी परम्पराओं के ग्रंथों के हृदयस्थल तक प्रवेश कर उसे पाठक के समक्ष बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत करें।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जब इस प्रश्न पर विचार करता हूँ कि मिथिला में भारतीय दर्शन की इतनी लम्बी और अद्भुत परम्परा में व्यवधान कब और कैसे आ गया, तो उद्विग्नता के साथ न्याय–दर्शन का छात्र होते हुए भी भारतीय इतिहास का पन्ना पलटने लगता हूँ, क्योंकि इतिहास ही इस प्रश्न का उत्तर देने में सक्षम हो सकता है। इतिहास स्वयं उत्तर देता है कि इतनी लम्बी राजनैतिक पराधीनता, मुसलमान और अंग्रेज शासकों का अत्याचार, उन दोनों के द्वारा भरतीय संस्कृति पर निरन्तर आघात, मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा अनेक बौद्धविहारों को, तथा नालन्दा और विक्रमशिला जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विश्वविद्यालयों को जलाया जाना, हजारों बौद्ध–विद्वानों को तलवार से काटे जाना या जिन्दा जलाये जाने का ही तो यह परिणाम है कि भारतीय दर्शन एवं ज्ञान–विज्ञान की जीवन्त परम्परा में व्यवधान आ गया। इन विश्वविद्यालयों में और विशेष रूप से नालन्दा में सातवीं शताब्दी तक शैक्षिक क्रिया–कलाप अपने उत्कर्ष पर था। वहाँ मात्र बौद्धदर्शन की ही शिक्षा नहीं दी जाती थी अपितु वेद, हिन्दू दर्शन, न्याय, व्याकरण एवं आयुर्विज्ञान की भी शिक्षा दी जाती थी। बौद्ध छात्र ही नहीं बल्कि हिन्दू छात्र भी नालन्दा में शिक्षा ग्रहण करते थे। भासम लिखते हैं कि *"Our knowledge of day-to-day life of Nalanda depends chiefly on Hsuan Tsang, who shows us the monastery in the 7th century as full of intellectual activity. Under its aged and saintly abott, Shilbhadra, Nalanda did not confine itself to training Buddhist novices, but also taught the Vedas, Hindu philosophy, logic, grammar and medicine. It would seem that the student population was not confined to the Buddhist order, but that candidates of other faiths who succeeded in passing a strict oral examination were admitted." (A L Bhasam, The Wonder That Was India, Pg 166, Picador)*

ऐसा आदर्श विश्वविद्यालय को जलाये जाना और विभिन्न मतावलम्बी छात्रों और अध्यापकों को विश्वविद्यालय परिसर के अन्तर्गत तलवार से काटना या अग्नि को समर्पित करना क्या भरतीय संस्कृति या ज्ञान–विज्ञान की क्षति का हेतु नहीं कहा जा सकता है ? नैयायिक और बौद्धों के बीच का बौद्धिक–संवाद ही दोनों संप्रदायों के उत्कर्ष का हेतु था। अतएव यह निश्चित है कि भारतीय संस्कृति एवं दर्शन में, विशेषरूप से मिथिला की न्यायपरम्परा में संक्रमण का दौर, नालन्दा और विक्रमशिला जैसे महाविहारों का मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा जलाने तथा बौद्ध दार्शनिकों का उस क्षेत्र से पलायन के पश्चात् ही आरम्भ हो गया था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मैं यहाँ वात्स्यायन के न्यायभाष्य, उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक, वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका या उनके अन्य ग्रंथों, अथवा पुनः उदयनाचार्य के विभिन्न ग्रंथों की चर्चा नहीं करना चाहता हूँ, क्योंकि उनके समय तक न्याय परम्परा का उत्तरोत्तर विकास हो रहा था। एक दूसरे के खंडन और मंडन के लिये बौद्ध और नैयायिकों द्वारा अनेक नवीन युक्तियाँ प्रस्तुत किये जा रहे थे। मिथिला में न्याय वाङ्मय की दशा में परिवर्तन हमें 1250 ई. के निकट देखने को मिलता है। 1225–1250 ई. के मध्य मुस्लिम आक्रान्ताओं ने विभिन्न बौद्धविहारों को अग्नि को समर्पित किया था और तत्पश्चात् ही न्याय परम्परा में बौद्धिक उथल–पुथल आरम्भ हुआ। उदयनाचार्य का लेखनकाल 1050– 1100 ई. के मध्य माना जाता है। उनसे पूर्व के नैयायिकों में अनिरुद्ध, कन्दलीकार श्रीधराचार्य, काशिकाकार सुचरित मिश्र, व्योमवती के लेखक व्योमशिवाचार्य, तात्पर्यटीकाकार एवं भामतीकार वाचस्पति मिश्र के गुरू त्रिलोचन, सनातनी, उदयनाचार्य के गुरु श्रीवत्स, वाचस्पति, शंकर आदि प्रमुख हैं। इन सभी नैयायिकों की उपस्थापनाओं का खंडन शान्तरक्षित, कमलशील, ज्ञानश्रीमित्र, अशोक पंडित, और रत्नकीर्त्ति इत्यादि अपने–अपने ग्रंथों और निबन्धों में करते हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेकों नैयायिक थे जिनके ग्रथों में बौद्ध दार्शनिकों के मतों को खंडित किया गया है। (देखें, मिथिला में नव्यन्याय का इतिहास, डी सी भट्टाचार्य, मिथिला शोध संस्थान, दरभंगा) इन नैयायिकों के अधिकांश ग्रंथ प्रकाशित हैं या प्रकाशित बौद्ध ग्रंथों में पूर्वपक्ष के रूप में उनके मतों को प्रस्तुत किया गया है।

1100–1200 ई. के मध्य मिथिला में लिखे गये न्याय दर्शन के ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय न्याय की बौद्धिक परम्परा पूर्ण रूप से गतिशील और सक्रिय थी। इतिहास के इस काल खंड के प्रसिद्ध नैयायिकों में न्यायलीलावतीकार श्रीवल्लभाचार्य, सप्तपदार्थी के लेखक शिवादित्य मिश्र, तर्कभाषाकार केशव मिश्र, और महामहोपाध्याय चन्द्र का नाम उल्लेखनीय है। श्री वल्लभाचार्य अपने न्यायलीलावती में कणादसूत्र की व्याख्या के साथ–साथ साधर्म्य, वैधर्म्य और प्रक्रिया नामक प्रत्ययों पर तीन विभिन्न अध्यायों में पृथक् रूप से विचार करते हैं। चार अध्यायों में विभाजित इस ग्रंथ में 75 विभिन्न विषयों पर चर्चा की गई है। अनेक बिन्दुओं पर सूत्रकार कणाद से भिन्न होकर श्री वल्लभाचार्य न्याय के निकटस्थ हो जाते हैं। उपोद्घात में वे स्वयं लिखते हैं कि – "सम्बन्धः सहजो गुणादिभिरयं यत्रास्तु सत्प्रीतये। सान्वीक्षावेष्मकर्मकुशला श्रीन्यायलीलावती।।"

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि न्याय और वैशेषिक दोनों ही उनके अनुसार आन्वीक्षिकी विद्या ही हैं। न्याय के 'अभाव' को वैशेषिक के अन्तर्गत और वैशेषिक के 'मन' नामक इन्द्रिय को न्याय के अन्तर्गत स्वीकार कर वे न्याय और वैशेषिक दोनों तन्त्रों को समान तन्त्र मान लेते हैं। उनकी इसी मौलिकता, अर्थात्, न्याय तथा वैशेषिक को समानतन्त्र के रूप में स्थापित करने के कारण ही उनका नाम उदयनाचार्य और गंगेशोपाध्याय के मध्य प्रमुखता से लिया जाता है। श्री वल्लभाचार्य अपने न्यायलीलावती में उदयनाचार्य के विभिन्न मतों को अस्वीकार कर तथा अपना स्वतन्त्र मत स्थापित कर अपनी मौलिकता का परिचय देते हैं। वे उदयनाचार्य को आचार्य पद से संबोधित नहीं करते हैं, अपितु वाचस्पति को 'तात्पर्याचार्य' तथा 'परमन्यायाचार्य' पदों से संबोधित करते हैं। श्री वल्लभाचार्य के पश्चात् इस अवधि के नैयायिकों में शिवादित्य मिश्र का नाम सप्तपदार्थी के लेखक के रूप में प्रसिद्ध है। गंगेशोपाध्याय अपनी तत्त्वचिन्तामणि के प्रत्यक्षखंड के निर्विकल्पवाद में शिवादित्य मिश्र का नामतः उल्लेख करते हुए उनके द्वारा प्रस्तावित विशेषण तथा उपलक्षण के लक्षणों का और उनके प्रयोगों का खंडन करते हुए उदयनाचार्य द्वारा किरणावली में प्रस्तावित लक्षणों तथा उनके प्रयोगों का अनुमोदन करते हैं। इससे सप्तपदार्थी की महत्ता सिद्ध होती है। शिवादित्य के ही समकालीन केशव मिश्र अपनी तर्कभाषा नामक ग्रंथ के लिये जाने जाते हैं। बालकों के लिये लिखा गया यह तर्कभाषा दो भागों में विभाजित है। एक भाग में प्रमाण पर चर्चा किया गया है और दूसरे भाग में प्रमेय पर। इस ग्रंथ पर अनेक टीका हुए हैं और न्याय के आरम्भिक छात्रों के लिये यह ग्रंथ अति उपयोगी माना जाता है। 1100–1200 ई. के मध्य गंगेशोपाध्याय से पूर्व के नैयायिकों में महामहोपाध्याय चन्द्र का नाम और उनके मत की चर्चा वाचस्पति मिश्र द्वितीय अपने तत्त्वालोक में करते हुए चन्द्र के मत को खंडित करते हैं। चन्द्र 'स्वत्व' को अष्टम पदार्थ मानते हैं जैसा कि वाचस्पति के निम्न पंक्ति से स्पष्ट है – "इत्यगत्याष्टमः पदार्थः स्वत्वमिति चन्द्रः"। चन्द्र के इस मत का खंडन वाचस्पति के अतिरिक्त वर्धमानोपाध्याय अपने लीलावतीप्रकाश में भी करते हैं।

1200 – 1250 ई. के मध्य लिखे गये न्याय के ग्रंथों में बौद्धिक तारतम्यता का अभाव पाया जाता है। महामहोपाध्याय चन्द्र के पश्चात् दिवाकरोपाध्याय को इस अवधि के नैयायिकों का प्रतिनिधि माना जा सकता है। उनके ग्रंथों में वही बौद्ध मत पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उदयनाचार्य तक के ग्रंथों में पाया जाता है। दिवाकरोपाध्याय के ग्रंथों में कोई नवीन बौद्ध पूर्वपक्ष उपस्थापित नहीं किया गया है। द्वितीयतः यहीं से श्रीहर्ष के खंडनखंडखाद्य पर नैयायिकों द्वारा टीका लिखने की परम्परा आरम्भ हो जाती है। दिवाकरोपाध्याय के निम्नलिखित ग्रंथ प्रकाश में हैं – (1) उदयनाचार्य की किरणावली पर विलासटीका, (2) खंडनटीका, (3) निबन्धोद्योत, और (4) न्यायकुसुमांजलि पर परिमल टीका। दिवाकरोपाध्याय के मतों का विश्लेषण जगदीश अपने शब्दशक्तिप्रकाशिका नामक ग्रंथ के कारक प्रकरण के अन्तर्गत करते हैं। उदयनाचार्य की किरणावली पर दिवाकरोपाध्याय की विलासटीका का न्याय परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके मतों से प्रभावित होकर वर्धमानोपाध्याय अपने द्रव्यप्रकाश नामक टीका में उनके द्रव्यत्व का लक्षण प्रस्तुत करते हुए खंडित करते हैं। पक्षधर मिश्र भी अपने द्रव्यविवेक में उनके मतों का नाम लेकर खंडन करते हैं। न्यायकुसुमांजलि पर दिवाकरोपाध्याय की परिमलटीका की समीक्षा वर्धमानोपाध्याय अपने न्यायकुसुमांजलिप्रकाश में और रुचिदत्त अपने मकरन्दटीका में अनेक बार करते हैं। दिवाकरोपाध्याय का निबन्धोद्योत उदयनाचार्य की परिशुद्धि की, जिसे निबन्ध के नाम से भी जाना जाता है, व्याख्या है। यह निबन्धोद्योत अपने समय में इतना अधिक प्रसिद्ध था कि वाचस्पति मिश्र द्वितीय अपने तत्त्वालोक में उदयनाचार्य के मत की व्याख्या के लिये निबन्धोद्योत की सहायता लेते हैं तथा उस ग्रंथ की पंक्तियों को उद्धृत करते हैं। दिवाकरोपाध्याय अपने खंडनटीका में श्रीहर्ष की युक्तियों का खंडन कर उदयनाचार्य के मतों को पुनः स्थापित करते हैं। यह नैयायिकों का वेदान्तदर्शन पर प्रथम प्रहार कहा जा सकता है।. दिवाकरोपाध्याय का समय 1200–1250 ई. माना जाता है और उनके ही समय से न्याय के पुस्तकों में बौद्धदर्शन का स्थान गौण हो जाता है, और वेदान्त दर्शन पूर्वपक्ष का स्थान ले लेता है। इतिहास के अनुसार 1200–1250 के मध्य इन दोनों महाविहारों को मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा जलाये जाने के फलस्वरूप बौद्ध दार्शनिकों के पूर्व पक्षों का अभाव होने से नैयायिक अपनी बौद्धिक सर्जनशीलता के लिये वेदान्त के सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष का स्थान देते हुए निराकरण करते हैं तथा अपने मत को प्रतिपादित करते हुए न्याय की परम्परा को आगे करते हैं। वेदान्ती बौद्ध परम्परा को आत्मसात् करते हैं और नैयायिक इस परम्परा का घोर विरोधी होने से उनके सिद्धान्तों को खंडित करते हैं। उस समय बौद्धदार्शनिकों के अभाव में न्याय पक्ष में संवादहीनता की स्थिति आ गयी थी और वहाँ से ही न्याय में संक्रमण काल का आरम्भ हो जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

1250–1300 ई. तक न्याय में संक्रमण की स्थिति थी। संक्रमण काल के नैयायिकों में प्रभाकरोपाध्याय, तरणि मिश्र, सोण्डलोपाध्याय, मणिकण्ठ मिश्र, सशंधराचार्य, और नारायण सर्वज्ञ के नामों का उल्लेख करना अनिवार्य हो जाता है। इस समय नैयायिकों के पक्ष में यह चिन्ता थी कि दर्शन के किस सम्प्रदाय को अपना पूर्वपक्ष बनाया जाय। द्रष्टव्य है कि श्रीवल्लभाचार्य और दिवाकरोपाध्याय के पश्चात् 1250–1300 ई. के मध्य लिखे गये ग्रंथों की संरचना और प्रवृत्ति उस अवधि से पूर्व के ग्रंथों की संरचना और प्रवृत्ति से सर्वथा भिन्न है। इस अवधि के ग्रंथों में हम पाते हैं कि बौद्ध मत पूर्वपक्ष नहीं है, अपितु एक नैयायिक दूसरे नैयायिक के मतों का खंडन एवं मंडन करते हुए अपनी युक्तियों का विस्तार करते हैं। सोण्डलोपाध्याय (1275 ई.) का उल्लेख गंगेशोपाध्याय अपनी तत्त्वचिन्तामणि में अनेक बार करते हैं। तरणि मिश्र (1300 ई.) के रत्नकोष का उल्लेख तथा मणिकण्ठ मिश्र के न्यायरत्न एवं न्यायचिन्तामणि का उल्लेख भी तत्त्वचिन्तामणि में पाया जाता है। इन तीनों नैयायिकों की विशेषता है कि वे एक दूसरे के मतों को अपना पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर एक दूसरे के मतों को खंडित एवं मंडित करते हैं। इनके ग्रथों में न्याय के अन्तर्गत हुए विकास को देखा जा सकता है। इन तीनों नैयायिकों के अतिरिक्त सशधराचार्य के न्यायसिद्धान्तदीप में प्रस्तुत मतों का भी गंगेशोपाध्याय खंडन करते हैं। ये सभी गंगेशोपाध्याय के तत्काल पूर्व के नैयायिक थे। प्रभाकरोपाध्याय का कोई स्वतन्त्र ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं है, परन्तु तत्त्वचिन्तामणि में गंगेशोपाध्याय उनका उल्लेख उदयनाचार्य के मतों को स्पष्ट करने के क्रम में करते हैं। पुनः वर्धमानोपाध्याय अपने न्यायलीलावतीप्रकाश में भी उदयनाचार्य के मत को स्पष्ट करने के लिये प्रभाकरोपाध्याय को उद्धृत करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रभाकरोपाध्याय ने उदयनाचार्य के ग्रंथों की व्याख्या की थी। (द्रष्टव्य, मिथिला में नव्यन्याय का इतिहास) संक्रमण काल के नैयायिकों में तरणि मिश्र अपने रत्नकोश नामक पुस्तक के लिये प्रसिद्ध हैं। मणिकण्ठ मिश्र और गंगेशोपाध्याय इस ग्रंथ का संदर्भ बहुत ही आदर के साथ प्रस्तुत करते हैं। रुचिदत्त तत्त्वचिन्तामणि के अपने अनुमानप्रकाश नामक टीका के ईश्वरवाद प्रकरण में तरणि मिश्र का उल्लेख करते हैं। गदाधर भट्टाचार्य अपने गादाधरी में रत्नकोशकार तरणि मिश्र के मतों को संकलित किया है। गंगेशोपाध्याय अपने तत्त्वचिन्तामणि के प्रत्यक्षखंड में तरणि मिश्र के मतों को प्रस्तुत कर खंडित करते हैं तथा वाचस्पति मिश्र द्वितीय मणिकण्ठ रचित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न्यायरत्न पर अपनी प्रकाशटीका में तरणि मिश्र के मत का समर्थन तथा गंगेशोपाध्याय के मत का खंडन करते हैं। रत्नकोश एक युक्ति प्रधान ग्रंथ है जहाँ विषयों का प्रतिपादन युक्तियों के आधार पर किया गया है। इस अवधि के नैयायिकों में सोण्डलोपाध्याय भी एक प्रमुख नैयायिक थे परन्तु उनकी कृति उपलब्ध नहीं होने से उनकी चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। वैसे उनके मतों की चर्चा गंगेशोपाध्याय और मथुरानाथ दोनों ही करते हैं। मणिकण्ठ मिश्र अपने समय के एक ऐसे नैयायिक थे जिन्होने गंगेशोपाध्याय को सर्वाधिक प्रभावित किया है। मणिकण्ठ मिश्र का न्यायरत्न एक प्रकाशित ग्रंथ है जो तीन भागों में विभाजित है और सभी भागों में न्याय के विषय–वस्तुओं की चर्चा सूक्ष्म दृष्टियों से किया गया है। यूँ तो नव्यन्याय की पदावली और परिष्कार पद्धति का आरम्भ उदयनाचार्य से ही होने लगा था, परन्तु मण्किण्ठ मिश्र के न्यायरत्न में वह और अधिक विकसित रूप में पाया जाता है। मणिकण्ठ के न्यायरत्न में उदयनाचार्य की परिशुद्धि और कुसुमांजलि की तथा तरणि मिश्र के रत्नकोश के अनेक उद्धरण पाये जाते हैं। मणिकण्ठ मिश्र अपने समय के नैयायिकों के मतों के खंडन में अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं और पुनः गंगेशोपाध्याय अपनी युक्तियों के अतिरिक्त उनकी युक्तियों को भी यथावत् स्वीकार करते हैं। न्यायरत्न में श्रीहर्ष के विभिन्न मतों का खंडन कर न्याय के मतों को स्थापित किया गया है। संक्रमण काल के तुरन्त बाद गंगेशोपाध्याय का अवतरण होता है और इस काल में न्याय का पूर्वपक्ष पुनः स्थिर हो जाता है।

1300 – 1350 ई. के बीच का समय मिथिला में न्यायशास्त्र के लिये एक ऐतिहासिक समय था क्योंकि इसी अवधि में गंगेशोपाध्याय तत्त्वचिन्तामणि नामक ग्रंथ का प्रणयन.कर नव्यन्याय परम्परा का शुभारम्भ किया था। गंगेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि बौद्धिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तीनों ही दृष्टियों से अति महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह अपने इस ग्रंथ में मीमांसा एवं अन्य बौद्ध परम्परा के सिद्धान्तों को सबलता के साथ पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित करते हैं जिससे न्याय शास्त्र में संक्रमण की स्थिति समाप्त हो जाती है। इनके मतों को खंडित करने के अतिरिक्त गंगेशोपाध्याय नवीन शब्दावली का प्रयोग करते हुए अपने से पूर्व के नैयायिकों के मतों का परिष्कार भी करते हैं और उनमें तार्किक संगति स्थापित करते हैं। वैसे इस प्रकारक संगति स्थापित करने का प्रयास मणिकण्ठ एवं सशधराचार्य ने भी किया था परन्तु वे उतने सफल नहीं हो पाये जितना कि गंगेशोपाध्याय।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तत्त्वचिन्तामणिकार के लिये किसी वाद के पक्ष या विपक्ष में प्रस्तुत युक्तियों का महत्त्व था न कि व्यक्तियों का; वे युक्तियों को महत्त्व देते हैं न कि उस व्यक्ति को जिसने वे युक्तिसाँ प्रस्तुत की हैं। गंगेशोपाध्याय स्वयं मंगलवाद में कहते हैं कि बौद्धों का अन्धकार रूप अज्ञान को दूर करने के लिये ही उन्होंने अपने इस ग्रंथ का प्रणयन किया है। वे बौद्धों के पक्ष को ऐसे खंडित करते हैं कि उनकी विचार–चातुरी ही समाप्त हो जाती है। न्याय के पक्ष में उनके अनुसार वचन की दरिद्रता नहीं पायी जाती है।

"यतो मणेः पण्डितमण्डनक्रिया, प्रचण्डपाखण्डतमस्तिरष्क्रिया।
विपक्षपक्षे न विचारचातुरी, न च स्वसिद्धान्तवचोदरिद्रता।।"

गंगेशोपाध्याय के इस ग्रंथ में सूत्रकार द्वारा वर्णित सोलह पदार्थों में से मात्र प्रमाण–तत्त्व पर ही विचार किया गया है क्योंकि नैयायिकों के अनुसार प्रमाण के अधीन ही अन्य सभी पदार्थ व्यवस्थित होते हैं। न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ही प्रमाण होते हैं। इसीलिये गंगेशोपाध्याय अपने इस ग्रंथ को उन चारों प्रमाणों के नाम पर चार खंडों में विभाजित कर उनके अन्तर्गत 46 वादों पर विचार करते हुए उन चारों प्रमाणों को स्पष्ट करते हैं। वे प्रत्यक्षखंड के प्रामाण्यवाद में निःश्रेयस के प्रसंग में बौद्ध मत को प्रस्तुत करते हुए उसे निरस्त करते हैं तथा शब्द खंड के शक्तिवाद में ज्ञानश्रीमित्र के अभावविषयक मत को प्रस्तुत कर ज्ञानश्रीमित्र के मत को खंडित करते हैं। वैसे बौद्धों के मतों को प्रस्तुत करने का उनका उद्देश्य मीमांसा और वेदान्त के मतों को उपस्थापित करना ही था, तथापि बौद्धों का मत पूर्णतया अप्रासंगिक नहीं हुआ था।

यह कहना समीचीन होगा कि गंगेशोपाध्याय के ग्रंथ में या उनसे पूर्व के नैयायिकों के ग्रंथों में बौद्धदार्शनिकों के प्रति प्रयुक्त भाषा से यह निर्विवादित रूप से सिद्ध होता है कि बौद्धिक स्तर पर न्याय बौद्धदर्शन के विरोधी अवश्य थे परन्तु बौद्धदार्शनिकों एवं बौद्ध संस्कृति के प्रति उनका निरादर का भाव कदापि नहीं था। न्याय परम्परा के आरम्भिक काल में यह मान्यता अवश्य थी कि बौद्ध हिन्दू धर्म या दर्शन के विरोधी हैं परन्तु यह मान्यता अधिक दिनों तक टिक नहीं पायी। बाद के दिनों में यह माना जाने लगा कि बौद्ध धर्म एवं दर्शन भी वृहत्तर हिन्दू धर्म एवं दर्शन का ही एक संप्रदाय है। समान्य जनों की यह मान्यता थी कि बौद्धदर्शन भी मानव को मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है तथा भगवान बुद्ध विष्णु के नवाँ अवतार थे। ए एल भासम के शब्दों में – *"If for a time Buddhism became to all*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

intents and purposes a separate religion, denying the Vedas, the ordinary layman might not see it in that light. For him Buddhism was one of many cults and faiths, by no means mutually exclusive, all of which led to salvation, and all of which were respectable and worthy of honour. Thus in medieval north India, the Buddha came to be looked on as the ninth of ten incarnation of the great god Vishnu... In the first rush of the Muslim advance down the Ganga Nalanda and other great monasteries of Bihar such as Vikramshila were sacked, libraries were burnt, and monks were put to the sword. Most of the survivors fled to the mountains of Nepal and Tibet, but some Buddhist monasteries still survived in Bihar and East Bengal. (A L Bhasam, The Wonder That Was India, pg 268, Picador)

न्याय ही नहीं अपितु अधिकांश भारतीय चिन्तन धाराएँ गंगेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि की ज्ञानात्मक योजना, उसकी आन्तरिक संरचना एवं विषय–वस्तु को प्रस्तुत करने की शैली, परिष्कार के लिये प्रयुक्त पदावली तथा उनकी युक्तियों से प्रभावित होकर गंगेशोपाध्याय की अनुगामी हो गईं। अपने इस ग्रंथ से उन्होंने न्याय को ही नहीं बल्कि सभी भारतीय चिन्तन परम्पराओं को एक नई दिशा की ओर लेकर चले गये। इससे न्याय के पूर्व की परम्परा धूमिल होकर प्राचीन न्याय कहलाने लगी और उनके द्वारा स्थापित परम्परा को लोग नव्यन्याय कहने लगे। यहाँ यह कहना उचित होगा कि प्राचीन और नव्यन्याय में विषयवस्तु की भिन्नता नहीं है, अपितु दोनों की भिन्नता उन दोनों की ज्ञानात्मक योजनाओं में, विषयवस्तु की आन्तरिक संरचनाओं और संगठनों में, दोनों की पदावलियों और शैलियों में तथा दोनों की युक्तियों में सन्निहित है। नव्य परम्परा के आगमन से प्राचीन परम्परा धूमिल अवश्य हुई परन्तु उसका अन्त नहीं। गंगेशोपाध्याय के पुत्र वर्धमानोपाध्याय, शंकर मिश्र, वाचस्पति मिश्र द्वितीय आदि अनेक विद्वानों ने प्राचीन परम्परा में ही लेखन कार्य किया है और वे सभी प्राचीन परम्परा के ही पोषक थे। गंगेशोपाध्याय से लेकर अद्यपर्यन्त जितने भी मैथिल नैयायिक हुए हैं उनमें से अधिकांशतः दोनों ही परम्पराओं में अपना लेखन कार्य किया है और वे दोनों ही परम्पराओं में निष्णात थे।

न्यायशास्त्र के इतिहास के इसी कालखंड में गंगेशोपाध्याय के पुत्र वर्धमानोपाध्याय का अवतरण होता है। वे प्राचीन न्याय के अनेक ग्रंथों पर टीका लिखकर और उन टीकाओं में विषयवस्तु की व्याख्या के लिये अपने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पिता के मतों का उपयोग कर प्राचीन और नव्य परम्पराओं के मध्य सेतु स्थापित करते हैं। वर्धमानोपाध्याय के निम्नलिखित प्रकाशित कृतियाँ उपलब्ध हैं – (1) न्यायनिबन्धप्रकाश जो उदयनाचार्य की परिशुद्धि के साथ प्रकाशित है। (2) न्यायपरिशिष्टप्रकाश जो उदयनाचार्य के परिशिष्ट के साथ प्रकाशित है। इन दोनों रचनाओं के अतिरिक्त (3) किरणावलीप्रकाश, (4) लीलावतीप्रकाश, तथा (5) कुसुमांजलिप्रकाश भी प्रकाशित है। अपने कुसुमांजलिप्रकाश में वे निबन्धप्रकाश और परिशिष्टप्रकाश के साथ–साथ तत्त्वबोध नामक एक अन्य रचना का भी उल्लेख करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने तत्त्वबोध नामक ग्रंथ भी लिखा था। इन सभी ग्रंथों में वे अपने पिता की युक्तियों को यत्र तत्र विषयवस्तु की व्याख्या के लिये उपयोग भी करते हैं। उनके सभी ग्रंथ प्रकाश के नाम से जाने जाते हैं।

1350 – 1400 ई. की कालावधि में न्याय–वैशेषिक और नव्यन्याय के क्षेत्र में वर्धमानोपाध्याय के पश्चात् तथा श्री शंकर मिश्र के पूर्व के मैथिल नैयायिकों में त्वन्तोपाध्याय (1350 – 1375 ई.) का जन्म होता है। उन्होंने न्यायकुसुमांजलि पर मकरन्दटीका तथा तत्त्वचिन्तामणि पर मणिटीका लिखा था, परन्तु श्री शंकर मिश्र की विद्वत्ता के समक्ष वे टिक नहीं सके। भारतीय चिन्तन परम्परा में न्याय ही एक ऐसी परम्परा है जिसने अन्यान्य बौद्धिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को सर्वाधिक प्रभावित किया है। न्यायेतर सभी परम्पराओं ने न्याय की भाषा एवं पद्धति को अंगीकार किया है और अपने सिद्धान्तों को स्थापित करने के लिये युक्तियों का प्रतिपादन किया है। इसीलिये तो उदयनाचार्य की गर्वोक्ति है कि –

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा,
यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान सैव पूर्वा,
नहि तरणिरुदिते दिक्पराधीनवृत्तिः।।

अर्थात् हम नैयायिक व्याकरण को, तर्क को, आन्वीक्षिकी को जिस पथ या विपथ पर रख देते हैं वही उनका पथ हो जाता है जैसे कि जिस दिशा में सूर्योदय होता है वही पूर्व कहलाता है, सूर्य अपने उदय के लिये दिशा का पराधीन नहीं होता। गंगेशोपाध्याय द्वारा तत्त्वचिन्तामणि में प्रतिपादित परिष्कार पद्धति और पदावली भारतीय शास्त्रों को अभी तक प्रभावित करते आ रहा है। पक्षधर की आलोकटीका के पश्चात् इस ग्रंथ की व्याख्या को लेकर बंगाल के नवद्वीप के नैयायिक मैथिलनैयायिकों से भिन्न हो गये और इस प्रकार तत्त्वचिन्तामणि के व्याख्याकार दो भागों में विभाजित हो गये।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

1400–1500 ई. के मध्य प्राचीन परम्परा और गंगेशोपाध्याय की नव्य परम्परा का विकस एक साथ देखा जा सकता है। मिथिला में नव्यन्याय का प्रचार एवं प्रसार 1400 ई. तक हो चुका था। श्री शंकर मिश्र के पितृव्य जीवनाथ मिश्र, पिता भवनाथ और स्वयं श्री शंकर मिश्र गंगेशोपाध्याय के तत्काल पश्चाद्वर्ती नैयायिकों में उल्लेखनीय हैं। जीवनाथ और भवनाथ के नाम का उल्लेख श्री शंकर मिश्र अपने सभी ग्रंथों में करते हैं। जीवनाथ और भवनाथ दोनों ही गंगेशोपाध्याय के मतों का खंडन करते हैं। यह चर्चा श्री शंकर मिश्र अपने वादिविनोद नामक पुस्तक में करते हैं। श्री शंकर मिश्र अपने आत्मतत्त्वविवेककल्पलता के उपोद्घात में लिखते हैं कि – स्वभ्रातुर्जीवनाथस्य व्याख्यामाख्यातवान् यतः। मत्पिता भवनाथो यां तामिहालिख़मुत्तमाम्।।

जीवनाथ और भवनाथ के समकालीन मिथिला में गंगादित्य और घटेशोपाध्याय नामक और दो महत्त्वपूर्ण नैयायिक हुए थे जिनका नाम सहित उल्लेख विद्यानिवास भट्टाचार्य अपने चिन्तामणिविवेचन में करते हैं। (द्रष्टव्य, डी सी भट्टाचार्य, बंगे नव्यन्यायचार्चा, पृ 63–64) पुनः श्री शंकर मिश्र अपने वादिविनोद में तथा वाचस्पति मिश्र द्वितीय अपने तत्त्वालोक नामक ग्रंथ में गंगेशोपाध्याय के मत में दोष दिखते हुए न्यायलोचनकार के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं। ये तीनों ही नैयायिक (गंगादित्य, घटेशोपाध्याय और न्यायलोचनकार) वर्धमानोपाध्याय के पश्चात् तथा श्री शंकर मिश्र और पक्षधर मिश्र के समय से पूर्व के प्रमुख नैयायिकों में से थे।

न्याय–वैशेषिक परम्परा में जिस प्रकार से श्री शंकर मिश्र का नाम अमर है उसी प्रकार से नव्यन्याय की परम्परा में श्री जयदेव मिश्र (प्रसिद्ध नाम पक्षधर) का नाम भी अमर है। तत्त्वचिन्तामणि पर उनकी आलोक टीका को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं आधिकारिक टीका माना जाता है। इस टीका के बिना तत्त्वचिन्तामणि को समझना असंभव है। दक्षिण में मध्वसंप्रदाय के व्यासतीर्थ स्वयं कहते हैं कि उनका तर्कताण्डव पक्षधर की आलोक टीका के बिना समझा नहीं जा सकता है। उनकी इस टीका से नव्यन्याय में मैथिल–संप्रदाय का जन्म हुआ। अपनी इस टीका में शिव की स्तुति के बाद वे स्वयं लिखते हैं कि – अधीत्य जयदेवेन हरिमिश्रात् पितृव्यतः। तत्त्वचिन्तामणेरित्थ–मालोकोऽयं प्रकाश्यते।।

उनके इस कथन से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने अपने पितृव्य हरि मिश्र से न्याय का अध्ययन किया था। आलोक टीका के अतिरिक्त इनका न्यायलीलावतीविवेक और द्रव्यविवेक दो अन्य ग्रंथ भी हैं, परन्तु ये दोनों ग्रंथ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उतने अधिक प्रचलित नहीं हैं जितना कि इनका आलोक। संभवतः न्यायवैशेषिक परम्परा में श्री शंकर मिश्र के तेज के कारण इनके ये दोनों ग्रंथ धूमिल पड़ गये। परन्तु नव्यन्याय के क्षेत्र में ये सूर्य के समान माने जाते हैं। नव्यन्याय के क्षेत्र में मिथिला में उनके शिष्यों में नरहरि मिश्र, वासुदेव, सुचिकरोपाध्याय, रुचिदत्त, और भगिरथ ठक्कुर प्रसिद्ध हैं, वहीं बंगाल में वासुदेव सार्वभौम तथा रघुनाथ शिरोमणि का नाम प्रसिद्ध है। पक्षधर और उनके शिष्य रघुनाथ शिरोमणि के प्रसंग में किंवदन्ति है कि जिस समय रघुनाथ अध्ययन के लिये पक्षधर के घर पर आये थे तो रघुनाथ शिरोमणि को देखकर पक्षधर ने उन्हें 'काण' शब्द से संबोधित करते हुए कहा था कि सहस्राक्ष विष्णु को कहा जाता है, त्रिलोचन शिव को, दो लोचन वाले हम सभी लोग हैं, एकलोचन वाले आप कौन हैं – आखण्डलः सहस्राक्षः विरूपाक्षस्त्रिलोचनः। वयं द्विलोचनाः सर्वेः को भवानेकलोचन।।

रघुनाथ शिरोमणि इस कटाक्ष का उत्तर देते हुए कहते हैं कि सहस्राक्ष विष्णु हैं, त्रिलोचन शिव हैं, आप सभी विलोचन हैं, और हम न्याय रूप एक लोचन से युक्त हैं – आखण्डलः सहस्राक्षः विरूपाक्षस्त्रिलोचनः। यूयं विलोचनाः सर्वे वयं न्यायैकलोचनाः ।।

रघुनाथ शिरोमणि से उनका अनेक विषयों पर मत भेद होने से और बंगाल के नैयायिकों द्वारा शिरोमणि की व्याख्या मान्य होने से बंगाल में मिथिला संप्रदाय के विरोध में नदिया संप्रदाय का उदय हुआ। परन्तु मैथिल नैयायिक अद्यतन वैषेशिकों में श्रीवल्लभाचार्य, श्री शंकर मिश्र और श्री भगिरथ ठक्कुर की व्याख्या को स्वीकार करते हैं तथा नव्यन्याय के क्षेत्र में पक्षधर की व्याख्या को ही महत्त्व देते हैं।

मिथिला में जीवनाथ के कनिष्ठ भ्राता भवनाथ (प्रसिद्ध नाम अयाची) के पुत्र श्री शंकर मिश्र (लेखन काल 1400 – 1450 ई. का नाम अत्यधिक आदर के साथ लिया जाता है। ऐसी किंवदन्ति है कि पाँच वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपनी प्रत्युत्पन्नमति से तत्कालीन मिथिला के राजा को चकित कर दिया था। उनका पाण्डित्य सभी शास्त्रों में अप्रतिहत था। न्याय–वैशेषिक परम्परा में उनका वही स्थान है जो कणाद, वाचस्पति एवं उदयनाचार्य का है। यद्यपि इनकी कृति न्याय–वैशेषिक से ही सम्बद्ध है तथापि अन्यान्य शस्त्रों में भी उन्होंने उसी अधिकार के साथ लेखन किया है जैसे कि न्याय–वैशेषिक में किया है। खंडनखंडखाद्य जैसे ग्रंथ पर भी इनकी लेखनी उसी प्रकार निर्बाध गति से चली है जिस प्रकार वैशेषिक के क्लिष्टतम ग्रंथ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न्यायलीलावती पर। अपने न्याय–वैशेषिक शास्त्र के परिशीलन से प्राप्त तर्कचातुर्य से खंडनखंडखाद्य को खंडित कर खाद्य बना दिया है। न्याय–वैशेषिक का कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ नहीं जिस पर उन्होंने नहीं लिखा हो। जिस ग्रंथ की व्याख्या उन्होंने की है उस ग्रंथ की अन्यान्य व्याख्या उपेक्षित हो गयी है। व्याख्या के अतिरिक्त उन्होंने स्वतन्त्र ग्रंथ भी लिखे हैं जिसमें वादिविनोद और भेदरत्न प्रसिद्ध हैं। भेदरत्न में इन्होंने अद्वैतवाद का ऐसा खंडन किया है कि आचार्य मधुसूदन सरस्वती अद्वैत की रक्षा के लिये अद्वैतरत्नरक्षणम् लिखने के लिये बाध्य हो गये। वे स्वयं कहते हैं कि उन्होंने अपने पिता से सभी शास्त्रों के सार का अध्ययन किया है और महार्णव नामक ग्रंथ को निरुपित कर तत्त्वचिन्तामणि के शब्दखंड पर मणिमयूख लिख रहे हैं। शब्दमणिमयूख के प्रारम्भ में ही वे कहते हैं कि –

तातादधीत्याखिलतन्त्रसारम् महार्णवादीन् बहुषो निरूप्य।
श्रीशंकरेणार्चितशंकरेण वितन्यते शब्दमणेर्मयूखः।।

द्रष्टव्य है कि मात्र न्यायशास्त्र पर ही नहीं अपितु काव्य और साहित्य के क्षेत्र में भी इन्होंने लेखन कार्य किया है। वे स्वयं अपने रसार्णव नामक ग्रंथ में लिखते हैं कि –

तर्काभ्यासपरिश्रान्तस्वान्तविश्रान्तिहेतवे।
ये श्लोका विहितास्तेषाम् संग्रहोऽयं विधीयते।।

इस ग्रंथ में न्याय–वैशेषिक विचार–वितान का अनुपम प्रयोग देखा जा सकता है। इनके अन्य ग्रन्थों में (1) मणिमयूख। यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, परन्तु श्री शंकर मिश्र इस ग्रंथ की चर्चा अपने वादिविनोद, कणादरहस्य, लीलावतीकण्ठाभरणम् और वैशेषिकसूत्रोपस्कार में करते हैं। (2) त्रिसूत्री–निबन्धव्याख्या। इस ग्रंथ में लेखक न्यायसूत्र के प्रथम तीन सूत्रों की उदयनाचार्य की परिशुद्धि नामक उपटीका की अक्षरानुसारिणी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। लेखक स्वयं कहते हैं कि उदयनाचार्य की इस उपटीका पर वर्धमानोपाध्याय की 'प्रकाशटीका', वटेश्वरोपाध्याय की 'दर्पणटीका', तथा दिवाकरोपाध्याय की 'उद्योतटीका' उपलब्ध है तथापि परिशुद्धि की योजना मात्र को स्पष्ट करने के लिये मैंने यह उद्यम किया है।

प्रकाशदर्पणोद्योतकृदभिव्याख्या कृतोज्जवला।
तथापि योजनामात्रमुद्दिश्यायं ममोद्यमः।।

(3) किरणावलीनिरुक्तिप्रकाश। यह उदयनाचार्य की किरणावली की व्याख्या है। इस ग्रंथ का संकेत करते हुए लेखक कणादरहस्य में लिखते हैं कि –

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'किरणावलीनिरुक्तिप्रकाशे च कृतव्युत्पादनमेतत्'। (4) भेदप्रकाश। यह ग्रंथ भेदरत्न के नाम से सरस्वती भवन, वाराणसी, से प्रकाशित है। (5) खंडनखंडखाद्यटीका। शांकरी नाम से प्रसिद्ध यह टीका प्रकाशित हो चुकी है। (6) कणादरहस्य यह चौखम्बा से प्रकाशित है। (7) वादिविनोद। गंगा नाथ झा के संपादकत्व में यह ग्रंथ प्रकाशित और उपलब्ध है। (8) आत्मतत्त्वविवेककल्पलता। यह ग्रंथ बिब्लियोथिका और चौखम्बा से प्रकाशित है। (9) वैशेषिकसूत्रोपस्कार। इसके अनेक संकलन प्रकाशित हैं। (10) न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम्। यह टीका वर्धमानोपाध्याय के 'प्रकाश' तथा भगिरथ ठक्कुर की 'प्रंकाशिका' टीका के साथ चौखम्बा से प्रकाशित है। (11) आमोद। यह उदयनाचार्य की न्यायकुसुमांजलि की टीका है तथा मिथिला शोधसंस्थान से वरदराज की 'बोधिनी और गुणानन्द के 'विवेक' के साथ प्रकाशित है। न्याय–वैशेषिक के इन प्रसिद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र और साहित्य के क्षेत्र में भी इनके चार ग्रंथ हैं और वे सभी प्रकाशित हैं।

श्री शंकर मिश्र के परिवार को वर्धमानोपाध्याय के परिवार के साथ मित्रता का भाव नहीं था और श्री शंकर मिश्र अपने अधिकांश ग्रंथों में वर्धमानोपाध्याय के मतों का और विशेषतः गंगेशोपाध्याय के मतों का खंडन करते हैं। कंहा जाता है कि उनकी पाठशाला में दस हजार से अधिक छात्र अध्ययन करते थे। वे पिता भवनाथ और पितृव्य जीवनाथ के प्रति आभार व्यक्त करत हुए कल्पलता में लिखते हैं – स्वभ्रातुर्जीबनाथस्य व्याख्यमाख्यातवान् यतः। मत्पिता भवनाथो यां तामिहालिखमुत्तमाम्।। पुनः खंडनटीका में लिखते हैं – व्याख्यानमिदमस्माकं यथा पितृवचस्तथा। व्याख्यानगुणदोशाभ्यां संबन्धो मत्पितुर्न में।।

अपने वैशेषिकसूत्रोपस्कार के उपोद्घात में शिव की स्तुति के पश्चात् श्री शंकर मिश्र अपने पिता को तथा कणाद को एक साथ नमस्कार करते हुए कहते हैं कि सूत्र मात्र का अवलम्बन लेकर बिना किसी आधार के, आकाश में खेलने के समान, मैं सूत्र की व्याख्या कर रहा हूँ – याभ्यां वैशेषिके तन्त्रे सम्यग् व्युत्पादितोऽस्म्यहम्। कणादभवनाथाभ्यां ताभ्यां मम नमः सदा।। सूत्रमात्रावलम्बेन निरालम्बेऽपि गच्छतः। खे खेलवन्ममाप्यत्र साहसं सिद्धिमेष्यति।।

श्री शंकर मिश्र के परिवार में न्याय–वैशेषिक परम्परा का अध्ययन अभीतक चलता आ रहा है। राजस्थान विश्वविद्यालय के विश्वम्भर पाहि के गुरु श्री खड्ग नाथ मिश्र उन्हीं के वंशज रहे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

श्री शंकर मिश्र के समकालीन और वैसे ही प्रतिभाशाली श्री वाचस्पति मिश्र (द्वितीय) का समय 1410 – 1490 ई. तक माना जाता है। न्याय–वैशेषिक दर्शन में उनका विशिष्ट योगदान रहा है। जिस प्रकार से श्री शंकर मिश्र खंडनटीका और भेदरत्न लिखकर वेदान्त के विभिन्न मतों को खंडित करते हैं उसी प्रकार से श्री वाचस्पति मिश्र खंडनोद्धार लिखकर वेदान्त के मतों को खंडित करते हुए न्यायवैशेषिक के बहुतत्त्ववाद स्थापित करते हैं। वाचस्पति मिश्र के निम्नलिखित प्रमुख ग्रंथ हैं – (1) न्यायतत्त्वालोक, (2) न्यायसूत्रोद्धार, (3) मणिकण्ठ मिश्र के न्यायरत्न पर न्यायरत्नप्रकाश नामक टीका, (4) प्रत्यक्षनिर्णय, (5) अनुमाननिर्णय, (6) शब्दनिर्णय, (7) खंडनोद्धार, तथा (8) तत्त्वचिन्तामणि पर चिन्तामणिप्रकाश नामक टीका। वाचस्पति के मत को यज्ञपति उपाध्याय अपने तत्त्वचिन्तामणि की प्रभाटीका में प्रस्तुत कर उनके मत को खंडित करते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यज्ञपति उपाध्याय, शंकर मिश्र, और पक्षधर मिश्र एक दूसरे से पारिवारिक रूप से सम्बन्धित थे। (द्रष्टव्य, मिथिला में नव्यन्याय का इतिहास, पृ 163) इस अवधि के नैयायिकों में यज्ञपति उपाध्याय अपनी तत्त्वचिन्तामणि पर प्रभाटीका के लिये तथा वटेश्वरोपाध्याय न्यायनिबन्धदर्पण और न्यायलीलावतीदर्पण के लिये प्रसिद्ध हैं। वटेश्वर के न्यायनिबन्धदर्पण का उल्लेख श्री शंकर मिश्र अपने त्रिसूत्रीनिबन्धव्याख्या में तथा न्यायलीलावतीदर्पण का उल्लेख पक्षधर मिश्र अपने द्रव्यविवेक में करते हैं।

1500 – 1600 ई. के मध्य भी भारतीय वाङ्.मय में विशेष रूप से मिथिला में न्याय और नव्यन्याय में सर्जनशीलता का अभाव नहीं पाया जाता है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि मुसलमान आक्रमण के पश्चात् न्याय में संक्रमण काल समाप्त हो जाने पर वेदान्त, मीमांसा और नैयायिकों की आपसी मतभिन्नता ही पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत होती रही और वह न्याय के विकास का कारण भी बनी। इस अवधि में पक्षधर के पुत्र माधव मिश्र, महेश ठक्कुर, और मधूसूदन ठक्कुर अपनी–अपनी लेखनी से भारतीय चिन्तन को स्वकीय ग्रंथों के माध्यम से विकसित करते रहे। ये तीनों ही नैयायिक महामहोपाध्याय थे और इनके समय को मिथिला में मकारादि के नाम से जाना जाता है क्योंकि तीनों का नाम 'म' से आरम्भ होता है। (आचार्य रमानाथ झा रचनावली, खंड –3, पृ 108,वाणी प्रकाशन, नई–दिल्ली) माधव मिश्र अपनी भेददीपिका नामक पुस्तक में भामती, खंडनखंडखाद्य और चित्सुखी में स्थापित वेदान्त के मतों का खंडन करते हुए न्याय मत स्थापित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करते हैं। महेश ठक्कुर अपनी तत्त्वचिन्तामणि की दर्पणटीका में पक्षधर की व्याख्या को और अधिक स्पष्ट करते हैं तथा तत्त्वचिन्तामणि की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। महामहोपाध्याय महेश ठक्कुर के वैदूष्य से प्रभावित होकर अकबर उनको तिरहुत सूबा दिया था। मधुसूदन ठक्कुर अपने कण्टकोद्धार में बंगाली नैयायिक वासुदेव सार्वभौम और प्रगल्भ की तत्त्वचिन्तामणि की व्याख्या का खंडन कर उसे परिष्कृत करते हैं। पुनः महामहोपाध्याय माधव मिश्र पक्षधर की आलोकटीका पर सिद्धान्जनटीका लिखकर पक्षधर के मत का समर्थन करते हैं। इस अवधि में भी मिथिला में न्याय की परम्परा पूर्ण सचेष्ट और गतिशील रही है।

1600 – 1700 ई. के ग्रंथकारों में मिथला में महामहोपाध्याय गोकुलनाथ उपाध्याय एवं महामहोपाध्याय गिरिधरोपाध्याय का नाम प्रसिद्ध है। गिरिधरोपाध्याय गोकुलनाथ उपाध्याय के पिता के कनिष्ठ भ्राता के पुत्र थे। (वही, पृ 493–95) गोकुल नाथ उपाध्याय अपने समय में एक ऐसे व्यक्ति थे जो ज्ञान के सभी विधाओं पर समान अधिकार से लेखन किया है। गोकुल नाथ और उनका परिवार मिथिला में तान्त्रिक के रूप में जाने जाते हैं। वैसे अधिकाधिक कार्य उन्होंने न्याय के क्षेत्र में ही किया है परन्तु व्याकरण, वेदान्त, काव्यशास्त्र, ज्योतिष, और तन्त्र के क्षेत्र में भी उनके कार्य उपलब्ध हैं। न्याय के अपने सभी ग्रंथों में उन्होंने रघुनाथ शिरोमणि के विभिन्न मतों का खंडन करते हैं। (1) चक्ररश्मि – यह ग्रंथ तत्त्वचिन्तामणि की टीका है। (2) दिक्कालनिरूपण में वे रघुनाथ के दिक्–काल सम्बन्धी मतों का विरोध करते हैं तथा वैशेषिक के मूल मत का समर्थन करते हैं। (3) दीधितिविद्योत रघुनाथ शिरोमणि की तत्त्वचिन्तामणि दीधिति की टीका है। अपनी इस टीका में भी वे रघुनाथ के विभिन्न मतों का खंडन करते हुए अपना मत स्थापित करते हैं। इन ग्रंथों के अरिरिक्त (4) कुसुमान्जलि टिप्पण, (5) खंडनकुठार, (6) लाघवगौरवरहस्य, (7) मिथ्यात्त्वनिरुक्ति, (8) न्यायसिद्धान्ततत्त्व, (9) पदवाक्यरत्नाकर, और (10) शक्तिवाद नामक उनके ग्रंथ उपलब्ध हैं। गोकुल नाथ उपाध्याय के शिष्य गिरिधिरोपाध्याय उस समय के दूसरे प्रमुख नैयायिक और वैयाकरण थे। उनके द्वारा रचित विभक्त्यर्थनिर्णय नव्यन्याय और व्याकरण का एक अति महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में वे 'विभक्ति' पर न्याय और व्याकरण में समन्वय स्थापित करते हैं। इस पुस्तक में वे जगदीश और गदाधर के मतों को आदर के साथ स्वीकार करते हुए उनके मतों की व्याख्या करते, हैं। जागदीशी और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गादाधरी की ऐसी व्याख्या अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। उनके पिता महामहोपाध्याय वागीशोपाध्याय अपने समय के एक प्रतिष्ठित नैयायिक माने जाते थे। (वही, पृ. 495)

1700 – 1800 ई. की कालावधि में भी मिथिला में न्याय की चिन्तन–धारा शुष्क नहीं हुई थी। इसी अवधि में भारत में अंग्रजों का आगमन आरम्भ हो चुका था और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत की शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में हस्तक्षेप भी आरम्भ हो चुका था तथापि उस अवधि में भी भारतीय चिन्तन–धारा विशेष रूप से मिथिला में न्याय की परम्परा गतिशील थी और ग्रंथों का प्रणयन हो रहा था। इस कालखंड के नैयायिकों में रूपनाथ ठक्कुर, विश्वनाथ झा और कविरत्न का नाम प्रसिद्ध है। रूप नाथ ठक्कुर महामहोपाध्याय महाराज महेश ठक्कुर के अग्रज महामहोपाध्याय दामोदर ठक्कुर के वंशज थे। रूपनाथ ठक्कुर का दर्पणभावप्रकाशटीका महेश ठक्कुर के आलोकदर्पण की एक प्रसिद्ध टीका है जिससे हमें दर्पणटीका को समझने में सहायता मिलती है। विश्वनाथ झा अपने सिद्धान्तसार और उदयनाचार्य की लक्षणावली पर प्रकाश नामक टीका के लिये प्रसिद्ध हैं। परमेश्वर झा और रिद्धिनाथ झा से न्याय की शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् विश्वनाथ झा नवद्वीप के गोलोक न्यायरत्न से शिक्षा ग्रहण किया था। उस समय न्याय में पत्रिका (एक प्रकारक शोध लेख) लिखने का प्रचलन था और उनका सिद्धान्तसार गंगशेपाध्याय के व्यधिकरण पर एक पत्रिका है। तत्त्वचिन्तामणि की संरचना का अनुसरण करते हुए उन्होंने अपनी प्रकाशटीका को प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द खंडों में विभाजित किया है। विश्वनाथ न्यायपंचानन की मुक्तावली की अनेक पंक्तियों को संदर्भ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विश्वनाथ झा अपनी इस प्रकाशटीका में श्री शंकर मिश्र द्वारा वादिविनोद में प्रस्तावित तेजसत्व सम्बन्धी मत का उल्लेख करते हुए उसे निरस्त करते हैं। इस कालखंड के नैयायिकों में कविरत्न का नाम भी प्रसिद्ध है। इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि के प्रत्यक्षखंड पर एक टीका लिखी है। अपनी इस टीका में वे कविरत्न गंगेशोपाध्याय पर लगाये गये आरोपों का खंडन करते हैं। ये पांडुलिपियाँ संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा में उपलब्ध हैं। इस अवधि तक मिथिला में भारतीय वाङ्.मय के क्षेत्र में बहुत अधिक क्षति नहीं हुई थी, परन्तु अंग्रेज विशेष रूप से मेकॉले की शिक्षा–पद्धति के आने से मिथिला में भारतीय ज्ञान–विज्ञान के प्रति अभिरुचि कम होने लगी थी। वहाँ के तत्कालीन महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह पाश्चात्य शिक्षा–पद्धति से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आकर्षित होकर मिथिला में 1880 ई. में राज स्कूल की स्थापना की थी जिससे कि मिथिला में संस्कृत की शिक्षा के साथ–साथ अंग्रेजी की शिक्षा भी प्राप्त हो सके। (वही, पृ. 106) महाराज के इस प्रयोग का सर्वोत्तम फल महामहोपाध्याय डॉ. सर गंगानाथ झा और रमानाथ झा प्रभृति विद्वानों में देखा जा सकता है। मिथिला में उस अवधि के विद्वानों को संस्कृत और अंग्रेजी दोनों ही भाषा पर समान अधिकार था। परन्तु अंग्रेज के आगमन के समय से ही मिथिला में अंग्रजी शिक्षा के प्रति आकर्षण तथा आर्थिक कारणों से संस्कृत–शिक्षा के प्रति आकर्षण कम होने लगा था। अतएव 1800 ई. के बाद की स्थिति का उल्लेख आगे किया जायेगा और अभी यह देखने का प्रयास करते हैं कि अंग्रेज के आगमन से देश में शिक्षा के क्षेत्र में क्या परिवर्तन आया जिससे कि संस्कृत–शिक्षा और पारम्परिक विद्याओं के प्रति आकर्षण कम हो गया।

पीछे के विवरण से और संस्कृति तथा शिक्षा के क्षेत्र में वर्तमान परिस्थिति से यह स्पष्ट है कि भारतीय ज्ञान–विज्ञान, संस्कृति तथा शिक्षापद्धति को सर्वाधिक क्षति अंग्रेजी शासन काल में हुआ है। मुस्लिम आक्रान्ताओं के घातक प्रहार से हम स्वयं की रक्षा कर सके परन्तु अंग्रजों ने हमारी आत्मा को इस प्रकार क्षति पहुँचाया कि हमारे प्रयत्नों के उपरान्त भी हम अपनी आत्मा से परिचित नहीं हो पा रहे हैं। यही कारण है कि रामधारी सिंह 'दिनकर' खिन्न होकर लिखते हैं कि " भारतीय शिक्षा के जो लोग कर्णधार समझे जाते हैं वे आज भी वुड की नीति को छोडने को तैयार नहीं हैं।" (संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 435) अंग्रजों को यह पता था कि शिक्षण–व्यवस्था का अंग्रेजीकरण करने से ही भारत की संस्कृति का पश्चिमीकरण किया जा सकता है और इसप्रकार भारत में अधिक दिनों तक शासन किया जा सकता है। यह नहीं कि अंग्रजी शासन के आरंम्भिक काल में या उससे पूर्व भारत में शिक्षण–व्यवस्था सुचारु नहीं थी। सम्पूर्ण देश में अनेकों संस्कृत की पाठशालायें और टोलें थी। इन टोलों और पाठशालाओं के अतिरिक्त विद्यालय भी थे जहाँ न्याय, व्याकरण, दर्शन, साहित्य, ज्योतिष और आयुर्वेद की शिक्षा दी जाती थी। आदम के रिपोर्ट के अनुसार "बंगाल–बिहार में हर चार सौ व्यक्तियों पर एक स्कूल था।" (रामधरी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 422) भारत के मुसलमानों को धार्मिक शिक्षा देना ईस्ट इन्डिया कम्पनी का एक उद्देश्य था और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कलकत्ता में 1781 ई. में वारेन हेस्टिंग्स ने एक मदरसा खोला था। (वही, पृ. 423) इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मदरसा के खुलने के दस वर्ष बाद बनारस के रेजीडेन्ट जोनाथन डंकन के अनुमोदन पर लॉर्ड कर्नवालिस ने बनारस में एक संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना की थी और यह कम्पनी सरकार का शिक्षा के क्षेत्र में दूसरा प्रयास था। राजा राम मोहन राय ने सन् 1816 ई. में कलकत्ते में हिन्दू महाविद्यालय की स्थापना की जो आगे चलकर प्रेसिडेन्सी कॉलेज कहलाने लगा। (वही, पृ. 424) प्रारम्भ में भारत में अंग्रेजी के प्रचार का लक्ष्य ईसाई धर्म का प्रचार और भारतीयों को क्रिस्तानी बनाना था। सर मोनियर विलियम अपने संस्कृत–अंग्रजी महाशब्दकोश की भूमिका के पृष्ठ 9–10 पर लिखते हैं कि बोर्डेन की यह इच्छा थी कि ईसाईयत के धर्म–ग्रंथों का संस्कृत मे अनुवाद हो जिससे कि भारतीयों को क्रिस्तान में सुगमता से परिवर्तित किया जा सके और ईसाई–धर्म प्रचारकों को पूर्वी साम्राज्य के लोगौं की धार्मिक आवश्यकताओं का पता चल सके। उनके अनुसार इसाई विद्वानों द्वारा संस्कृत का अध्ययन भारत में इसाई की स्थापना के लिये आवश्यक है। इस विषय पर ऑक्सफोर्ड में उनका प्रथम भाषण 1860 ई. में हुआ था जो वहीं से 1861 ई. में प्रकाशित हुआ था। (द्रष्टव्य, मॉनियर विलियम के संस्कृत–अंग्रजी महाशब्दकोश की भूमिका) इस प्रकार भारत में अंग्रेजी का प्रचार एवं प्रसार करना भारतीयों को मानसिक एवं धार्मिक रूप से परतन्त्र करना ही था। 1835 ई. में लॉर्ड मेकॉले के प्रयास से विलियम बैंटिक द्वारा यह घोषणा की गई कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से ही देना चाहिये। उस वर्ष ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में भारत के लिये इंग्लिश एजुकेशन एक्ट पारित किया गया जिसमें यह प्रावधान था कि भारत में पश्चिमी विषयों की शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से होनी चाहिये। जिस वर्ष भारत में प्रथम स्वतन्त्रता आन्दोलन का बिगुल फूँका गया था उसी वर्ष अंग्रेज शासक लंदन विश्वविद्यालय के अनुरूप कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में विश्वविद्यलयों को स्थापित कर अंग्रेजी शिक्षित एक विशेष वर्ग के निर्माण कार्य में लग गये। इस प्रकार मेकॉले की शिक्षा–नीति को भारत में लागू कर अंग्रेजी शासन हमारी मानसिक–परतन्त्रता का कारण बन गया। स्वतन्त्रता के पश्चात् भी हमारी स्वतन्त्रता को अधिकाधिक राजनैतिक स्वतन्त्रता ही कही जा सकती है। आज के भारतीय बुद्धिजीबियों का यह पूर्वाग्रह है कि ज्ञान–विज्ञान का विकास पश्चिम में ही हुआ है और भारत को विश्व की सभ्यता और संस्कृति में कहीं स्थान नहीं है। बुद्धिजीवियों की यह मानसिकता तथाकथित श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम और उन विश्वविद्यालयों की संस्कृति में देखा जा सकता है। मैं स्वयं दिल्ली

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विश्वविद्यालय का एक छात्र और कुछ समय के लिए अध्यापक था। उस विश्वविद्यालय में हमारे समय में पाश्चात्य दर्शन और अंग्रेजी माध्यम का ही वर्चस्व था। उस समय यह मान्यता थी और संभवतः अभी भी है कि यदि आप अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य दर्शन में प्रवीण हैं तो आप योग्य हैं अथवा नहीं। हमारे समय में हिन्दी क्षेत्र से आये छात्रों की यह दुःस्थिति थी उन्हें योग्य ही नहीं माना जाता था। दिल्ली में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की स्थिति दिल्ली विश्वविद्यालय की तुलना में और अधिक विपन्न है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग में भारतीय दर्शन का अध्यापन ही नहीं होता है। फलतः वहाँ भारतीय दर्शन का अध्यापक भी नहीं है। अधिकांश विश्वविद्यालयों में बुद्धिजीवियों का एक वर्ग है जो संस्थाओं पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये भरतीय वाड्.मय पर हिन्दी भाषा या संस्कृत भाषा के माध्यम से शोध कर रहे विद्वानों को मुख्यधारा से पृथक् किये हुए हैं। इन बुद्धिजीवियों ने एक भ्रान्ति प्रचारित कर दिया है कि भारतीय वाड्.मय या चिन्तन पर हिन्दी या संस्कृत भाषा में किये गये शोध–कार्य द्वितीय श्रेणी के होते हैं। इस मानसिकता का ही यह परिणाम है कि भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् की मुख पत्रिका अंग्रेजी में ही अद्यतन प्रकाशित हो रही है। अम्बिकादत्त शर्मा बुद्धिजीवियों की इस मानसिकता का उल्लेख अपने एक निबन्ध में निम्नलिखित शब्दों में करते हैं– "अंग्रजों ने हिन्दुस्तानियों के भीतर एक नये ही वर्ग को पनपाया जो अपने मुल्क और अपने लम्बे अतीत से कहीं ज्यादा पश्चिम के बारे में जानने में रुचि रखते हैं। ज्ञान के हर क्षेत्र में केवल वही जानते हैं जो पश्चिम ने उपजाया है – यूनानियों के वक्त से लगाकर आज तक। हमारे स्कूल, कॉलेज, और विश्वविद्यालयों में, जहाँ हमारे दिमाग की ढ़लाई होती है, यही सब पढ़ाया भी जाता है। इस प्रकार एक ऐसी मानसिकता का निर्माण हुआ जिसमें इस देश का हर पढ़ा–लिखा आदमी भीतर से यही मानकर चलता है कि सारे ज्ञान की जड़ें पश्चिम में हैं और यह कि भारतीय सभ्यता अथवा किसी भी अन्य पश्चिमेतर सभ्यता का अतीत इस दृष्टि से शून्य है कि उसका विश्वसभ्यता को कोई योगदान नहीं है।" (उन्मीलन, वर्ष 27, अंक 2, पृ. 44) इस अंश का समापन मैं रामधारी सिंह 'दिनकर' की पंक्ति से करना चाहूँगा – "शायद मेकॉले सचमुच ही जीत गया है। भारतीय जनता का जो भाग अंग्रेजी नहीं जानता अथवा कम जानता है, आज भारतीयता का सबसे अधिक ध्यान उसी समुदाय को है। जो लोग अंग्रेजी में माहिर और देश के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संचालक और सूत्रधार हैं, वे भारत के अतीत को भूलने की मुद्रा में हैं।" (संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 435) वैसे सभी अंग्रेज भारतीयता को नष्ट करने के पक्षधर नहीं थे। उनमें एसियाटिक सोसाईटी के संस्थापक विलियम जोन्स, कोलब्रुक, और एलफिन्सटन के नाम प्रमुख हैं।

मेकॉले की शिक्षा–नीति पर आधारित विश्वविद्यालयों की स्थापना से भारत में राजनैतिक दृष्टि से ही नहीं अपितु सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से भी एक नये युग का आरम्भ होता है। अंग्रेजी शासन हमारी चिन्तन धारा को इतना अधिक क्षतिग्रस्त कर दिया था कि वह हमारे पुनर्जागरण का हेतु भी बन गया। जिस समय ये अंग्रेज शासक मेकॉले के हाथों हमारी शिक्षा पद्धति को परिवर्तित कर भारतीय चिन्तन–धारा को पश्चिमी चिन्तन–धारा की ओर ले जा रहे थे, उसी समय में उन्हीं के देश के ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में विद्वानों द्वारा वेद का अनुवाद, संस्कृत साहित्य का इतिहास, तथा संस्कृत–अंग्रेजी शब्दकोश के निर्माण का कार्य किया जा रहा था। हाँ, मैं यहाँ मैक्सम्यूलर, विन्टरनिट्ज और मॉनियर विलियम की ओर संकेत कर रहा हूँ। यह एक भिन्न विषय है कि मैं और संभवतः वे सभी जो भरतीय दर्शन एवं संस्कृति के मूल स्वरूप से अवगत हैं तथा उस क्षेत्र में अध्ययनरत हैं, उन लोगों की व्याख्या और उनके उद्देश्य से सहमत नहीं हैं, क्योंकि ये लोग भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को उसके मूल स्वरूप में उपस्थापित नहीं कर पाते हैं और उनका उद्देश्य भारत की आत्मा को समझना नहीं अपितु भारत में ईसाईयत को प्रचारित और प्रसारित करना था, जैसा कि मॉनियर विलियम के कथन से स्पष्ट है। मैक्सम्यूलर की व्याख्या का ही यह परिणाम है कि बहुत इतिहासकार यहाँ तक कि जवाहरलाल नेहरू भी अपने डिस्कॉभरी ऑफ इण्डिया में यह मान लेते हैं कि आर्य आक्रमणकारी थे और भारत के मूल निवासी नहीं थे। वास्तव में इन तीनों ही विद्वानों का लक्ष्य भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को ईसाई संस्कृति एवं सभ्यता की तुलना में हीन दिखाकर भारत में ईसाई धर्म को प्रोत्साहित करना था। उन लोगों के कार्यों का हमें दो परिणाम देखने को मिलता है – (1) भारत में कार्यरत विदेशी भारतीय चिन्तन परम्परा की ओर आकृष्ट हुए तथा उनके माध्यम से भारतीय वाङ्मय का अंग्रेजी में अनुवाद एवं व्याख्या का कार्य आरम्भ हुआ। उन विदेशियों में अर्थर वेन्स, थीबो, ग्रीयर्सन, क्राउन, ग्राउसे, और बेलेनटाइन के नाम प्रमुख हैं। (2) दूसरा परिणाम यह हुआ कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कुछ भारतीय बुद्धिजीवी सत्ता के लोभ में आकर तथा मैक्सम्यूलर और मार्क्स से प्रभावित होकर अपनी ही सांस्कृतिक एवं बौद्धिक परम्परा का निष्पक्ष मूल्याँकन करने में असमर्थ हो गये।

महामहोपाध्याय डॉ. सर गंगानाथ झा मम्मट के काव्य–प्रकाश के अपने आँग्ल अनुवाद और व्याख्या की प्रस्तावना में लिखते हैं कि भारत में दर्शनशास्त्र के प्रति आकर्षण के फलस्वरूप यूरोप में भी भारतीय दर्शन को जानने और समझने की इच्छा उत्पन्न हुई। फलतः भारतीय ज्ञान–विज्ञान को ज्ञान के सार्वभौमिक तन्त्र के अन्तर्गत उचित स्थान पर स्थापित किया जाने का प्रयत्न होने लगा। गंगानथ झा के अनुसार –*"With the growth of interest and study in metaphysics and psychology there has undoubtedly grown on parallel lines, in Europe, interest in and study of the philosophy of other sciences. And we see excellent books issued from the press day after day, which seek to clear up the fundamental ideas of Law, of History, of Politics, of the Physical Sciences and of the various branches of Art. In short there has been a general growth of introspective 'Intelligence' on all matters; and an effort is perceptible everywhere to locate every portion of knowledge in its proper place in a universal scheme." (Preface, Kavya Prakasha with English Translation and Explanation, Ganganatha Jha, pg V Reprint by Bharatiya Vidya Prakashan)* ग्रीयर्सन द्वारा भाषा–भूषण का आँग्ल अनुवाद और व्याख्या इन्डियन एन्टीक्यूअरी नामक पत्रिका में 1894 ई में प्रकाशित हुआ। उसी समय में उनका लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इन्डिया अनेक खंडों में प्रकाशित हुआ जो विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास के इतिहास का एक मानक ग्रंथ माना जाता है। डॉ. ग्रीयर्सन एक आई.सी.एस. अधिकारी थे और सेवा–निवृत्ति के पश्चात् और अपने अन्तिम दिनों में यूरोप जाने से पूर्व मधुबनी में रहते थे। अभी भी मधुबनी का वह क्षेत्र जहाँ उनका निवास स्थान था 'गिलेसन' के नाम से जाना जाता है। डॉ. झा अपने काव्य–प्रकाश के अनुवाद और व्याख्या की प्रस्तावना में आगे लिखते हैं कि उनके इस कार्य से बीस वर्ष पूर्व राय बहादुर प्रमदा दास मित्र द्वारा साहित्य–दर्पण का आँग्ल अनुवाद और व्याख्या प्रकाशित किया गया था। गंगानाथ झा के शब्दों में – *"This is the second Sanskrit work on the Science of Poetry that is being offered to the English -reading public in an English garb - if we do not count the Bhasha Bhushana, a Hindi work*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

on the same subject, which was rendered into English and published in the pages of the Indian Antiquary in 1894, by Dr Grierson, whose labours in the cause of Hindi literature rival those of the late Mr Growse. The first was the Sahitya Darpana of Vishwanatha Kaviraja, which was placed over twenty years ago before the public by Rai Bahadur Pramada Das Mittra, in an English form, that still remains a model of scholarly and excellent translation." (Ibid, pg V) उनके अनुसार यह अनुवाद और व्याख्या विद्वत्ता के क्षेत्र में एक मानक स्थापित करता है। डॉ. ग्रीयर्सन का रचना काल और राय बहादुर का रचना काल एक ही था।

काव्य–प्रकाश का आँग्ल अनुवाद और व्याख्या डॉ. झा का प्रथम प्रकाशन था और इस प्रकाशन के पीछे वेन्स महोदय की प्रेरणा थी। वेन्स महोदय उस समय काशी के क्वीन्स कालेज के प्राचार्य और 'पंडित' पत्रिका के संपादक थे। वे डॉ. झा के काव्य–प्रकाश के आँग्ल अनुवाद और व्याख्या से इतना अधिक प्रभावित हुए कि उसे वे अपनी पत्रिका में क्रमिक रूप से प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया। यह प्रकाशन पुस्तकाकार रूप में उपलब्ध है और जैसा कि पुरोवाक् से स्पष्ट है कि डॉ. झा उस समय मात्र अट्ठारह वर्ष के थे। गंगानाथ झा स्वयं लिखते हैं – *"It was in a fit of juvenile enthusiasm that I permitted the first edition of my translation of the Kavyaprakasha to appear in the 'Pandit' of Benares; otherwise, under ordinary circumstances, it would be sheer audacity on the part of a boy of eighteen to put himself forward as the interpreter of a book which, apart from its subject-matter, is regarded, in point of style and expression, as one of the tersest, and hence the most difficult, in the Sanskrit language." (Ibid, pg I)* इस प्रथम प्रकाशन से बालक गंगानाथ का मनोमस्तिष्क इतना अधिक प्रभावित हुआ कि वे जीवन–पर्यन्त अनेकानेक भरतीय ग्रंथों का आँग्ल अनुवाद और व्याख्या सफलता पूर्वक करते रहे।

इसमें दो राय नहीं कि मेकॉले की शिक्षा–नीति का ही यह परिणाम था कि प्रथम स्वतन्त्रता आन्दोलन के पश्चात् तत्कालीन प्रबुद्ध भारतीय अपने इतिहास को टटोलने लगे और सांस्कृतिक तथा राजनैतिक विरासत के प्रति सचेष्ट हो गये। यही सचेष्टता सांस्कृतिक और राजनैतिक आन्दोलन में परिवर्त्तित हो गया। ये दोनों ही आन्दोलन एक दूसरे के पूरक थे। परिणामतः भारतीय वाङ्मय के प्रति आस्था के साथ–साथ हिन्दी और अन्यान्य क्षेत्रिय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाषा एवं साहित्य का भी विकास होने लगा। उस समय प्रयाग और काशी में ही हिन्दी भाषा, साहित्य, और भारतीय वाङ्मय पर इतना अधिक कार्य हुआ कि किसी भी स्थान विशेष के लिये यह प्रतिष्ठा का विषय हो सकता है। प्रयाग में डॉ. अमर नाथ झा, फिराक गोरखपुरी (रघुपति सहाय), हरिवंश राय बच्चन, और अज्ञेय जैसे अंग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हिन्दी साहित्य और भारतीय चिन्तन को विकसित करने लगे। काशी और प्रयाग में एक ऐसी परम्परा चली कि हिन्दी भाषा, साहित्य और भारतीय विद्या के क्षेत्र में ये दोनों ही स्थल अग्रगण्य हो गये। मैक्सम्यूलर की वेद की व्याख्या और मेकॉले की शिक्षा–नीति की प्रतिक्रिया अत्यन्त ही जटिल और क्लिष्ट है। बुद्धिजीवियों का एक वर्ग तो भारत की सांस्कृतिक अस्मिता पर हुए आघात से विचलित होकर उससे मुक्त होने के लिये अद्यतन प्रयत्नशील दिखने लगा, वहीं बुद्धिजीवियों का दूसरा वर्ग यूरोपीय संस्कृति और सभ्यता से उत्पन्न चिन्तन–धारा से प्रभावित होकर उसके समक्ष नतमस्तक हो गये और अपनी सांस्कृतिक परम्परा को भूलकर उसकी अनुचित व्याख्या करने लगे।

1800–1900 ई. तक के काल काल खंड के विद्वानों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के विद्वानों में वे विद्वान् हैं जिन्हें संस्कृत और अंग्रेजी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था, और द्वितीय वर्ग के विद्वानों में वे जो संस्कृत भाषा के माध्यम से अध्ययन किया था। प्रथम वर्ग में श्रीअरविन्द, गंगानाथ झा, काशीप्रसाद जायसवाल, योगेन्द्रनाथ बागची, हर प्रसाद शास्त्री, फणिभूषण तर्कवागीश, कुप्पूस्वामी शास्त्री, पी केशव शास्त्री के नाम प्रमुख हैं। इन लोगों को अंग्रेजों के समक्ष यह सिद्ध करना था कि भारत में तर्कशास्त्र, साहित्य, काव्यशास्त्र, व्याकरण, राजनीतिशास्त्र, गणित, ज्यामिति, आदि ज्ञान–विज्ञान का विकास यूरोप की तुलना में बहुत पहले ही हो चुका था। फलतः ये लोग अंग्रेजी भाषा और संस्कृति को अंगीकार किये बिना अंग्रेजी को मात्र अभिव्यक्ति की भाषा के रूप में स्वीकार करते हुए भरतीय ग्रंथों का अनुवाद और व्याख्या करने लगे। ये लोग भारत की आत्मा से पूर्ण परिचित थे और अपनी अस्मिता की रक्षा के लिये अंग्रेजी भाषा को अभिव्यक्ति की भाषा के रूप में स्वीकार किया था। इन लोगों को अंग्रजों के समक्ष यह सिद्ध करना था कि भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान–विज्ञान पुरातत्त्व का विषय–वस्तु नहीं है, अपितु एक निरन्तर प्रवाहमान् चिन्तनधारा है जिसका साक्षात सम्बन्ध हमारे जीवन से है। अंग्रेजों के भ्रम को दूर करने के लिये उन मनीषियों के लिये अंग्रेजों की भाषा में लिखना अनवार्य था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस अनिवार्यता को रमेशचन्द्र शाह प्रभृति शीर्षस्थ हिन्दी साहित्यकार एवं दार्शनिक स्वीकार करते हुए कहते हैं कि उन लोगों द्वारा अंग्रेजी में लिखने से हमारी क्षति नहीं हुई। अंग्रेजों के समक्ष भारतीय परम्परा, संस्कृति, एवं दर्शन की अक्षुण्णता और जीवन्तता सिद्ध करने के लिये ही राजाराव या आर के नारायण जैसे साहित्यकार अपना उपन्यास अंग्रेजी में लिखा था या पुनः श्रीअरविन्द जैसे दार्शनिक अपना ग्रंथ 'दि लाईफ डिवाईन' अंग्रेजी में लिखा था। गुलाम बनाने वाली भाषा में गुलाम देश की प्रतिभा ने उन अंग्रेजों को और मेकॉले को यह सिद्ध कर दिखाया कि भारतीय ज्ञान–विज्ञान एवं संस्कृति पुरातत्त्व का विषय नहीं अपितु एक निरन्तर प्रवाहमान जीवन–धारा है जिसमें भारतीय सहस्त्राब्दियों से जीते आ रहे हैं। वैसे आत्ममंथन करने से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय की स्थिति भी उन लोगों के अनुसार संतोषजनक नहीं थी। जैसा कि महामहोपाध्याय डॉ. सर गंगानाथ झा के निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है – *The translation of Vatsyayana was taken up in sheer bravado, if the use of such a term be permissible in this connection. The first scholar to try his hands on it was the late Dr. Ballantyne, who handed down the task to his pupil Mahamahopadhyaya P. Keshavashastri, who carried on the work up to a few pages and then apparently gave it up. Subsequently the work was taken up by a friend of mine at Calcutta; but when I asked him, after a few years, how far he had progressed, he told me frankly that the work was terribly difficult and so he had given it up. Then and there I made up my mind to undertake the work , and to make the task still more difficult, and hence worth doing, I took up the Varttika also. How far I have succeeded in this audacious task, it is for the learned to judge, and itheir hands I leave it, desiring no better tribunal than them to adjudicate upon my work. (Preface of Nyaya Sutra of Gautam, reprinted by Moti Lal Banarsidas dated: January 20, 1920)*

डॉ. झा के उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि उनके समय में भी दर्शनशास्त्र के मूल ग्रंथों पर कार्य संतोषजनक रूप से नहीं हो रहा था। उस समय की और आज भी यह आवश्यकता है कि दर्शनशास्त्र के मूल ग्रंथों का अधिकाधिक अनुवाद और व्याख्या हो जिससे कि हमारे शास्त्रों में सन्निहित ज्ञानों का प्रचार और प्रसार हो। डॉ. झा ने 1920 ई. में न्याय भाष्य और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वार्तिक का अनुवाद एवं व्याख्या किया था, परन्तु 95 वर्षों के पश्चात् भी वाचस्पति की तात्पर्यटीका और उदयनाचार्य की परिशुद्धि अननुदित ही है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि ये चारों ही ग्रंथ न्यायचतुर्ग्रंथिका के नाम से जाना जाता है और प्राचीन–न्याय के आधार ग्रंथ माने जाते हैं। डॉ. झा के समय में वाचस्पति की तात्पर्यटीका और उदयनाचार्य की परिशुद्धि प्रकाश में नहीं थी, परिणामतः ये दोनों ही ग्रंथ उनके द्वारा अननुदित रह गये। 1920 ई. के पश्चात् इस विधा में किये गये अधिकाधिक शोध कार्य उन्हीं के अनुवाद पर आश्रित होने से श्री रमेशचन्द्र शाह यह कहने के लिये बाध्य हो गये कि – "हमारे दर्शन विभाग के प्रोफेसरान – जो महज पुरानी बातों के पिष्टपेषण से या पश्चिमी दार्शनिक सिद्धान्तों पर सेमिनार बगैरह करके, परचे लिखकर ही अपने को कृतकार्य समझ लेते हैं, वे अपने पेशेवर कर्म को स्वधर्म की गरिमा दें।" (उन्मीलन, वर्ष 27, अंक 1, पृ. 13) यदि इन अध्यापकों को संस्कृत भाषा का सामान्य ज्ञान होता और शास्त्र के प्रति निष्ठा होती तो संभवतः श्री शाह महोदय को यह चिन्ता नहीं होती।

यह नहीं कहा जा सकता है कि डॉ. झा को या तत्कालीन अन्य विद्वानों को अंग्रेजी में भारतीय दर्शन के ग्रंथों का अनुवाद और व्याख्या करने में उत्पन्न विसंगति का बोध नहीं रहा हो या वे अंग्रेजी के पक्षधर रहे हों। वे अंग्रेजी को पराधीनता का द्योतक मानते थे और उन्हीं के सौजन्य से तथा उनके पुत्र डॉ. अमरनाथ झा के सहयोग से प्रयाग में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की गयी थी। इन्हीं दोनों महानुभावों के संरक्षण में प्रयाग में अनेकानेक हिन्दी साहित्य के विभूतियों का और हिन्दी भाषा के आधुनिक प्रारूप का उदय हुआ था। पिता और पुत्र का काल प्रयाग विश्वविद्यालय का और प्रयाग के बौद्धिक वातावरण का स्वर्णिम युग कहा जा सकता है। उस समय प्रयाग और काशी ही नहीं अपितु देश के सभी शीर्षस्थ बुद्धिजीवियों और नेताओं ने राजनैतिक स्वतन्त्रता के साथ साथ मानसिक स्वतन्त्रता भी चाहते थे। उसी समय में इन लोगों ने हमें भूरे साहब से बचने का सलाह भी दिया था। इसी मनः स्थिति में देश स्वतन्त्र हुआ था परन्तु आज के परिप्रेक्ष्य में वह स्वतन्त्रता राजनैतिक स्वतन्त्रता मात्र बन कर रह गई है। यशदेव शल्य का स्पष्ट कथन है कि "यदि हम उस सारी मानसिकता को गहराई से देखें तो पायेंगे कि देश के मानस में गहरे में कहीं 'स्वतन्त्रता–संग्राम' का अर्थ राजनैतिक स्वतन्त्रता ही था, मानसिक (सांस्कृतिक) स्वतन्त्रता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं।" (समेकित दार्शनिक विमर्श, सम्पादक – अम्बिकादत्त शर्मा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, पृ. 5) चूँकि मानसिक रूप से हम परतन्त्र ही रह गये, इसीलिये भारतीय भाषाओं और वाङ्मय की अवमानना तो होना ही था।

1800–1900 ई. के मध्य के द्वितीय वर्ग के मैथिल नैयायिकों में जिन्होंने संस्कृत माध्यम से न्याय का अध्ययन और लेखन कार्य किया था उनमें जटाधर झा, विश्वनाथ झा, बबुजन झा, धर्मदत्त झा प्रसिद्ध बच्चा, झा का नाम प्रमुखता से गिनाया जा सकता है। इन नैयायिकों में भी बच्चा झा ने सर्वाधिक लेखन कार्य किया है। इनका कार्य नव्यन्याय, प्राचीनन्याय, और साहित्य के क्षेत्र में उपलब्ध है। साहित्य में ये सुलोचनमाधवचम्पू के लिये प्रसिद्ध हैं, तो नव्य और प्रचीन न्याय के क्षेत्रों में निम्नलिखित ग्रंथ इनको महत्त्वपूर्ण नैयायिक के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है। (1) जगदीश के व्याप्तिपंचक पर विवृति, (2) जगदीश के सिद्धान्तलक्षण पर विवृति, (3) गदाधर के सामान्यनिरुक्ति पर विवृति, (4) गदाधर के व्युत्पत्तिवाद पर गूढार्थतत्त्वालोक नामक टीका, (5) गीता की मधुसूदनी व्याख्या की टीका, (6) न्यायकुसुमांजलि पर वर्धमान कृत प्रकाशटीका की व्याख्या। ये ग्रंथ बच्चा झा को इस काल खंड के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नैयायिक के पद पर स्थापित कर देते हैं। इन प्रकाशित ग्रंथों के अतिरिक्त ग्यारह अप्रकाशित पांडुलिपियाँ संस्कृत विश्वविद्यालय दरभंगा में सुरक्षित हैं। बच्चा झा कभी भी अपने क्षेत्र से बाहर नहीं गये तथापि अपने लेखनी के बल से सम्पूर्ण देश में अपने को स्थापित कर लिया। इनके शिष्यों में स्वमी पूर्णानन्द, स्वामी परमानन्द, श्री सहदेव झा, श्री शशि नाथ झा, श्री केशव झा, महामहोपाध्याय बालकृष्ण मिश्र, श्री लक्ष्मी नाथ झा, श्री हरि नाथ शास्त्री, श्री षष्ठी नाथ मिश्र, और श्री गोप्तृ नाथ मिश्र प्रसिद्ध हैं। ये सभी 1900 ई. के बाद देश के प्रमुख नैयायिक थे और अपनी अपनी लेखनी से परम्परा को समृद्ध किया है। (द्रष्टव्य, बच्चा झा विरचित गूढार्थतत्त्वालोक, पृ 49, संपादक कीर्त्यानन्द झा, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी)

भारत की शिक्षण–व्यवस्था में अंग्रेजों के हस्तक्षेप से भरतीय शिक्षण–प्रणाली टूटने लगी थी और अंग्रेजों के आगमन से उत्पन्न सामाजिक, राजनैतिक, और आर्थिक परिवर्तन के फलस्वरूप 1900 ई. के निकट मिथिला के सभी प्राचीन शैक्षिक–केन्द्र टूट चुके थे। पुनः जीविकोपार्जन हेतु अध्यापनवृत्ति पंडितों को स्वीकार नहीं था क्योंकि प्राचीन पंडितों की मान्यता थी की विद्या विक्रय की वस्तु नहीं है। प्राचीन शिक्षा प्रणाली के टूटने के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पश्चात् संस्कृत के क्षेत्र में कोई वैकल्पिक व्यवस्था नहीं हो पा रही थी। आर्थिक दृष्टि से विपन्न पंडित अपने घर में ही छात्रों को रखकर उनका परिपालन करते हुए शिक्षा दे रहे थे। पंडितों की यह दशा देख कर तत्कालीन दरभंगा के महाराज संस्कृत के प्रति अपने जन्मजात अनुराग के कारण उन पंडितों को अनुदान और करमुक्त भूमि देना आरम्भ कर दिया जिससे कि पंडित और छात्रों का परिपालन हो सके। महामहोपाध्याय महेश ठक्कुर से लेकर महाराज कामेश्वर सिंह पर्यन्त उस परिवार में अनेकों पंडित हुए थे, फलतः महाराजों का पंडितों के प्रति आकर्षण स्वभाविक था। आचार्य रमानाथ झा के शब्दों में – *"Till the beginning of this century there was no college or school for Sanskrit learning here in Mithila because no Pandit could undertake teaching on payment. A Pandit taught his pupils at his home and in many cases maintained them in his own family as members thereof." (Ramanath Jha, From Darbhanga Raj and Sanskrit Learning, Originally printed in Bulletin of Mithila Research Institute, Darbhanga, Reprinted in Complete Works of Ramanath Jha, Volume - 3, pg. 544, Vani Prakashan, New Delhi)* परन्तु यह व्यवस्था स्थायी नहीं होने से प्रचीन शैक्षिक–केन्द्र के विकल्प में बनारस संस्कृत महाविद्यालय के अनुरूप महाराज दरभंगा के अनुदान से देश में अनेक संस्कृत महाविद्यालय और विद्यालय स्थापित किये गये। बंगाल को बिहार और ओड़िसा से पृथक् होने के पश्चात् संस्कृत शिक्षा को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये बिहार–ओड़िसा संस्कृत परिषद् स्थापित की गयी। इसका कार्य संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र में पाठ्यक्रम निर्धारित करना तथा परीक्षा संचालित करना था– *"After the creation of the province of Bihar and Orissa, a Sanskrit Association was formed to supervise the studies of Sanskrit learning in these provinces and conduct the examination thereof and the Maharajadhiraj Rameshwar Singh was the life-president of that Association." (Ibid, pg 545)* संस्कृत परिषद् के अतिरिक्त महाराज रामेश्वर सिंह द्वारा बिहार–ओड़िसा शोध समिति का गठन किया गया। इस शोध समिति का संरक्षक महाराज को और अध्यक्ष बिहार–ओड़िसा के उपराज्यपाल को मनोनित किया गया था। के.पी. जायसवाल अवैतनिक सचिव के पद पर नियुक्त किये गये। शोध समिति के तत्त्वावधान में पाँडुलिपियों का संचयन किया गया तथा जायसवाल को संचित पाँडुलिपियों की विवरणात्मक सूचि बनाने का भार दिया गया।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जायसवाल के मृत्योपरान्त यह कार्यभार ए.पी. बनर्जी को दिया गया और उन दोनों के संपादकत्व में विवरणात्मक सूचि के चार खंड प्रकाशित हो सके। उस समय से अभी तक शेष पाँडुलिपियाँ समिति के पुस्तकालय में यथावत हैं – *"He [Maharajadhiraj Rameshwar Singh] encouraged the idea of a Research Society for the state of Bihar and Orissa of which he became a patron when it was established and under its auspices he arranged to have a thorough search made of Sanskrit manuscripts in Mithila...Four volumes of this descriptive catalogue have already been published under the able editorship of the late K. P. Jayaswal and, after his death, of Dr. A. P. Banerji- Shastri. Materials for some ten such volumes more are still lying in the Library of the Bihar Research Society." (Ibid, pg 547)*

उक्त कथन के संदर्भ में जायसवाल की निम्न पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं – *This book, the Rajaniti Ratnakara, came to light as a result of the search for Sanskrit manuscripts instituted in the province of Bihar and Orissa, by Sir Edward Gait, the late Lieutenant Governer of the Province and Founder and President of the Bihar and Orissa Research Society. It was decided to commence the search in two centers - Puri and Mithila (Darbhanga), and the work was entrusted by the Government to the Bihar and Orissa Research Society. In 1918 the search in Mithila was undertaken, and as Honorary General Secretary to the Research Society I directed and supervised the work. (Introduction of Rajaniti Ratnakar of Chandeshwar by K P Jaiswal, pg.1, The Bihar and Orissa Research Society, Patna, 1936)*

पाँडुलिपियों को प्रकाशित करने के लिये महाराज रामेश्वर सिंह द्वारा दरभंगा में एक प्रेस स्थापित किया था और उस प्रेस से विभिन्न शास्त्रों के ग्रंथ प्रकाशित किये गये थे। न्याय शास्त्र के तीन निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ सर्वप्रथम वहीं से प्रकाशित किये गये थे – (1) विश्वनाथ न्यायपंचानन का भाषापरिच्छेद और सिद्धान्तमुक्तावली, (2) उदयनाचार्य का आत्मतत्त्वविवेक उस समय तक उपलब्ध टीकाओं के साथ, (3) वाचस्पति मिश्र द्वितीय का द्वैत निर्णय उनके पौत्र नरहरि मिश्र की टीका के साथ। *(Complete Works of Ramanath Jha, Volume - 3, page 546 - 47, Vani Prakashan, New Delhi)*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

महाराज रामेश्वर सिंह के मृत्यु के उपरान्त महाराज कामेश्वर सिंह भी संस्कृत शिक्षा एवं वाङ्.मय के उत्थान हेतु भावनात्मक रूप से कार्य करते रहे। 1934 ई. में उन्होंने दरभंगा में पंडितों का त्रिदिवसीय महासम्मेलन आयोजित किया था जिसमें देश के 1000 से अधिक पंडितों ने भाग लिया था। इस महासम्मेलन की अध्यक्षता क्रमशः पंडित मदन मोहन मालवीय, महामहोपाध्याय डॉ. सर गंगानाथ झा, पंडित रामभद्र झा, विद्यावाचस्पति पंडित मधुसूदन झा ने किया था– *"He [Maharajadhiraj Kameshwar Singh] called in the summer of 1934 a great Sammelan of Sanskrit scholars which lasted for three days. It was attended by thousands of Pandits not only of Mithila but of other parts of the country also, among whom were Pandit Madan Mohan Malaviya, Mm Dr Ganganath Jha, Pandit Rambhadra Jha, Vidyavachaspati Madhusudan Jha and others." (Ibid, pg 549)* प्रत्येक वर्ष किसी न किसी अवसर पर महाराज कामेश्वर सिंह इस प्रकार पंडितों का महासम्मेलन आयोजित करते थे और ऐसा अन्तिम आयोजन 23 मार्च 1955 ई. को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के प्रथम राष्ट्रपति बनने के अवसर पर किया गया था जिसमें राष्ट्रपति स्वयं उपस्थित थे– *"The last of such assemblies was on the occasion of the last visit of Dr. Rajendra Prasad, the first President of the Indian Republic, to Darbhanga on the 23rd March 1955." (Ibid, pg 549)* पंडितों का एक महासम्मेलन 21 नवम्बर 1951 ई. को मिथिला शोध संस्थान के आरम्भ होने के अवसर पर किया गया था। इस अवसर पर भी राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद उपस्थित थे। मिथिला शोध संस्थान में मिथिला के पारम्परिक पंडित और विश्वविद्यलयीय व्यवस्था से आये विद्वानों को एक साथ रखकर इन विद्वानों को परम्परा में शिक्षित किया जाता था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत पी.एल. वैद्य, सत्करी मुखर्जी, शीतॉंशु शेखर बागची, और अनन्त लाल ठाकुर प्रभृति विद्वानों का दरभंगा से अविर्भाव हुआ– *"There was, likewise, an assembly of a very large number of Pandits invited to witness the laying of foundation of the Mithila Research Institute at Kabraghat, since then called Mahesh Nagar, at Darbhanga by the President of India Dr. Rajendra Prasad on 21st*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

November 1951." (Ibid, pg.549) सम्मेलन में पंडितों की विदाई के अवसर पर महाराज द्वारा लाखों रुपये व्यय किये जाते थे। उनके समय में भी दरभंगा प्रेस से संस्कृत वाङ्मय के अनेक दुर्लभ ग्रंथ प्रकाशित किये गये। स्वातंत्र्योत्तर काल में बदलते राजनैतिक और सामाजिक परिवेश को देखते हुए महाराज कामेश्वर सिंह को यह स्पष्ट हो गया था कि उनके पश्चात् संस्कृत शिक्षा एवं भारतीय ज्ञान–विज्ञान का उचित संरक्षण नहीं हो पायेगा। फलतः वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुरूप दरभंगा में भी एक संस्कृत विश्वविद्यालय का होना अनिवार्य हैं। तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ. श्री कृष्ण सिंह और शिक्षा मंत्री डॉ. गंगानन्द सिंह के सहयोग से दरभंगा में उनके द्वारा एक संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित किया गया– *"Maharajdhiraj Kameshwar Singh saw that as days passed on he would not be able to do all that he had been doing or would like to do for the cause of Sanskrit learning and he made up his mind to help the Government of Bihar as much as he could do to establish a Sanskrit University here at Darbhanga on the lines of the Varanaseya Sanskrit University." (Ibid, pg. 551)* उस विश्वविद्यालय को उन्होंने अपना पैतृक गृह, विशाल पुस्तकालय, और सहस्त्रों पाँडुलिपियाँ देकर उस विश्वविद्यालय को एक आदर्श संस्कृत विश्वविद्यालय बना दिया। तत्कालीन बिहार सरकार भी संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र में महाराज कामेश्वर सिंह का और उनके परिवार के योगदान को ध्यान में रखते हुए वह संस्कृत विश्वविद्यालय कामेश्वर सिंह के नाम पर ही खोलने का निर्णय लिया। आज विश्वविद्यालय महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है और देश का दूसरा सबसे प्राचीन संस्कृत विश्वविद्यालय है– *"But the greatesı service by far which the late Maharajdhiraj Kameshwar Singh rendered to the cause of Sanskrit learning just a couple of years before his sad and premature passing away was the magnificent donation of his most valuable ancestral palace and the equally valuable collection of his Sanskrit books and thousands of rare manuscripts to the Sanskrit University which the Government of Bihar has established at Darbhanga after his*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

name." (Ibid, pg. 551) शिक्षा के बल से ही महामहोपाध्याय महेश ठक्कुर मिथिला राज अर्जित किये थे और अन्ततः शैक्षिक कार्य के लिये ही दरभंगाराज के अन्तिम महाराज कामेश्वर सिंह ने अपना सर्वस्व सरस्वती के चरणों में अर्पित कर दिया था। आज भी उनके पैतृक गृहों में दो विश्वविद्यालय और उनके निवास स्थान दरभंगा में अनेक शिक्षण संस्थान चल रहे हैं। यह बात अलग है कि राजनैतिक हस्तक्षेप और सामाजिक दुःस्थिति के कारण ये विश्वविद्यालय और शिक्षण संस्थान महाराज कामेश्वर सिंह की कल्पना को साकार करने में सक्षम रहे अथवा नहीं।

1900–2000 ई. के मध्य भारतीय वाङ्मय की दशा को प्रस्तुत करने के लिये उस कालखंड के सामाजिक ताना–बाना को समझना नितान्त आवश्यक है। इस अवधि में बहुत अधिक सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलन हुए और इन सभी आन्दोलनों से शैक्षिक जगत् और विशेष रूप से संस्कृत की शिक्षा सर्वाधिक प्रभावित हुई। अंग्रेजी साम्राज्यवाद, स्वतन्त्रता आन्दोलन, और स्वातंत्र्योत्तर युग की सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ समग्र रूप से स्वातंत्र्योत्तर युग में संस्कृत शिक्षा के लोप का कारण बनीं। अतएव इस शताब्दी को दो कालखंडों में – स्वतन्त्रता से पूर्व और स्वतन्त्रता के पश्चात् – विभाजित करके ही भरतीय वाङ्मय की दशा को निरूपित किया जा सकता है। स्वतन्त्रता से पूर्व अंग्रेजी साम्राज्यवाद की शक्ति हमारे सामाजिक चिन्तन को प्रभावित कर रही थी। मेकॉले की शिक्षा–नीति के आधार पर देश में विश्वविद्यालयों की स्थापना हो रही थी और उन विश्वविद्यालयों के स्नातकों को ही अंग्रेज अपने शासन–व्यवस्था में नियोजित करते थे। अंग्रेज शासकों से निकटता के कारण उन स्नातकों की सामाजिक प्रतिष्ठा संस्कृत में प्रवीण व्यक्तियों की तुलना में अधिक होने से संस्कृत शिक्षा के प्रति आकर्षण कम होने लगा। आर्थिक लाभ और सामाजिक प्रतिष्ठा के लोभ से मेधावी छात्र अंग्रेजी शिक्षा की ओर उन्मुख हो रहे थे। इस विपरीत परिस्थिति में भी दरभंगा क्षेत्र में वहाँ के तत्कालीन महाराज रामेश्वर सिंह और उनके पश्चात् उनके पुत्र महाराज कामेश्वर सिंह का भारतीय वाङ्मय और ज्ञान–विज्ञान के प्रति स्नेह और उनके संरक्षण के परिणामस्वरूप 1900–1950 ई. की अवधि में संस्कृत के क्षेत्र में वहाँ से अनेक मनीषियों का उदय हुआ जिनमें महामहोपाध्याय डॉ. सर गंगानाथ झा, महामहोपाध्याय बालकृष्ण मिश्र, महामहोपाध्याय चुम्बे झा, महामहोपाध्याय डॉ. उमेश मिश्र,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पंडित मार्कण्डेय मिश्र, पंडित शशि नाथ झा, पंडित महेश झा, पंडित आनन्द झा, पंडित खड्‌ग नाथ मिश्र, पंडित दुर्गाधर झा इत्यादि प्रसिद्ध हैं। इनमें से अधिकांश सुपरिचित नाम हैं और इन लोगों ने इतना अधिक लेखन–कार्य किया है कि उन सभी के लेखनी का सम्पूर्ण विवरण देना असंभव है। डॉ. गंगानाथ झा ने दर्शन शास्त्र की अनेक विधाओं के ग्रंथों पर लाख पृष्ठों से अधिक लेखन कार्य किया है। उसी प्रकार खड्‌ग नाथ मिश्र, दुर्गाधर झा, और आनन्द झा के कार्यों से हम परिचित हैं क्योंकि इन लोगों के कार्य हिन्दी और संस्कृत दोनों ही भाषाओं में प्रकाशित और उपलब्ध हैं। अतएव यहाँ मैं उन्हीं के कार्यों का उल्लेख करूंगा जिन्होंने मात्र संस्कृत भाषा में कार्य किया है।

महामहोपाध्याय बालकृष्ण मिश्र रचित निम्नलिखित ग्रंथ प्रकाशित और उपलब्ध हैं – (1) उभयाभावादिवारकपरिष्कारप्रकाश। इस ग्रंथ में लेखक न्याय के उभयाभावविषयक मत का गंगेशोपाध्याय द्वारा परिष्कार को प्रकाशित करते हुए स्वमत स्थापित करते हैं। (2) अनुमानखंड क्रोडपत्र। यह ग्रंथ तत्त्वचिन्तामणि के अनुमानखंड पर आधारित है। (3) शक्तिवादक्रोडपत्र। यह क्रोडपत्र तत्त्वचिन्तामणि के शब्दशक्तिवाद पर आधारित है। (4) लकारशक्तिनिरुक्ति। प्रयोग काल में धातु के उत्तर तिड्. विभक्ति होती है और यह तिड्.विभक्ति दस प्रकार की होती है। इन विभक्तियों को लकार कहते हैं। न्याय में लकार की शक्ति पर विस्तार से चर्चा किया गया है। इस ग्रंथ में लेखक इस विषय पर चर्चा करते हैं। (5) शाब्दबोधपरीक्षा। न्याय में शब्द को चौथा प्रमाण माना गया है। तत्त्वचिन्तामणि के चतुर्थ खंड में शब्दप्रमाण पर चर्चा की गई है। शब्द से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे शाब्दबोध कहते हैं। अपने इस ग्रंथ में लेखक शाब्दबोध पर चर्चा करते हैं। नव्यन्याय के इन ग्रंथों के अतिरिक्त प्राचीन न्याय में इनका (6) न्यायसूत्रवृत्तितात्पर्यविवृति और वेदान्त में (7) मुक्तिवादटिप्पणी प्रकाशित एवं उपलब्ध है। (साभार– साहित्यिकी, सरिसब–पाही, मधुबनी, बिहार) बालकृष्ण मिश्र के ही समकालीन पंडित मार्कण्डेय मिश्र का शब्दस्फोटवाद दरभंगा से प्रकाशित और उपलब्ध है। अपने इस कार्य में लेखक शब्द के अर्थ का स्फुटन सम्बन्धी न्याय के मतों की चार्चा करते हुए अपना मत स्थापित करते हैं। पंडित शशि नाथ झा के दो ग्रंथ मिथिला शोध संस्थान से प्रकाशित हैं – (1) त्रितलावच्छेदकता और (2) उ़दयनाचार्य की लक्षणमाला की व्याख्या। इस अवधि के मैथिल नैयायिकों में पंडित महेश झा का नाम लेना यहाँ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रासंगिक है। उन्होंने न्याय और नव्यन्याय के क्षेत्र में दस से अधिक ग्रंथों की रचना की है। पंडित महेश झा के निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध हैं– (1) विषयतावाद, (2) स्फोटनिरूपण, (3) नञर्थवाद, (4) जातिबाधकपरिष्कार, (5) लघुशब्देन्दुशेखरनागेशोक्तिप्रकाशक, (6) कारकान्तव्याख्या, (7) शब्दद्रव्यत्वविचार, (8) न्यायनिबन्धतर्कप्रदीप (साभार – साहित्यिकी, सरिसब–पाही, मधुबनी, बिहार) उक्त विवरण से स्पष्ट है कि महाराज दरभंगा के संरक्षण के परिणामस्वरूप 1900 – 1950 ई. तक मिथिला में भारतीय वाङ्.मय विशेष रूप से न्याय की स्थिति निराशाजनक नहीं थी। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् की स्थिति अत्यधिक निराशाजनक कही जा सकती है।

सम्पूर्ण भारत में और विशेष रूप से मिथिला में स्वतन्त्रता के पश्चात् की सामाजिक स्थिति वही नहीं रही जो स्वतन्त्रता से पूर्व की स्थिति थी। स्वतन्त्रता के पश्चात् इस देश के मनुजों को एक साथ दो शक्तियों ने प्रभावित किया है जिससे न्याय का वाङ्.मय ही नहीं अपितु सम्पूर्ण शिक्षण–व्यवस्था प्रभावित हुई है। इसी सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप इस प्रदेश से मेधा का पलायन सर्वाधिक हुआ। स्वातंत्र्योत्तर युगीन समाज को और विशेष रूप से बिहार को निम्न दो शक्तियों ने प्रभावित किया है – (1) अंग्रेजी साम्राज्यवाद और संस्कृति से उत्पन्न विकृत मानसिकता। समाज के अधिकांश सदस्य अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति से प्रभावित होकर भारतीय संस्कृति और ज्ञान–विज्ञान के प्रति उदासीन ही नहीं अपितु उसे हीन भाव से देखने लगे। इस तरह वे अपने गौरवशाली अतीत से कटने लगे। (2) स्वातंत्र्योत्तर युग में बदलते राजनैतिक परिस्थिति जन्य सामाजिक परिवर्तन। राजनेताओं को सत्ता में बने रहने के लिये यह आवश्यक था कि समाज के सदस्य शिक्षा के प्रति उदासीन रहें और अपने अतीत से कट जायें, फलतः ये राजनेता वहाँ के अतीत पर और सामाजिक ताना–बाना पर सदैव प्रहार करते रहे। ये दोनों ही शक्तियाँ समाज को संयुक्त रूप से प्रभावित करते रहे जिससे समाज की अन्तः संरचनाओं में आपसी विसंगति आने से समाज में संरचनात्मक परिवर्तन होने लगा। इस संरचनात्मक परिवर्तन से शिक्षा का पतन होने लगा और पुनः मेधा का पलायन। इसका प्रभाव उस क्षेत्र में संस्कृत की शिक्षा पर भी देखने को मिलता है। अतएव उस क्षेत्र में 1950 ई. के पश्चात् के संस्कृत के स्नातकों में से किसी भी ऐसे स्नातकों का नाम नहीं लिया जा सकता जिन्होंने न्याय के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य किया हो।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

1947 के बाद जिस समय देश अपना पुनर्निमाण का कार्य कर रहा था उस समय वाराणसी और प्रयाग के अतिरिक्त जहाँ महामना मालवीय, डॉ सम्पूर्णानन्द, पुरुषोत्तमदास टंडन, हरिवंश राय बच्चन, अज्ञेय आदि महापुरुषों का प्रभाव था, अन्यत्र यही मान्यता थी की देश का पुनर्निमाण अंग्रेजी में ही संभव है क्योंकि सारा ज्ञान–विज्ञान यूरोप के पास अंग्रेजी में ही उपलब्ध है। स्वतन्त्रता के पश्चात् कुछ भारतीय राजनेताओं और अवसरवादी बुद्धिजीवियों की यूरो–केन्द्रित मनोवृत्ति भारतीय वाङ्मय में सन्निहित ज्ञान–विज्ञान को हिन्दी भाषा में अभिव्यक्त करने का बाधक बन गया। यही कारण था कि डॉ. बलदेव उपाध्याय को दर्शन परिषद् के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहना पड़ा कि – "दर्शन के विद्वानों से मेरी प्रर्थना है कि अंग्रेजी में वे ग्रंथ प्रणयन भले करें पर उन्हीं विचारों के निदर्शन के लिये हिन्दी भाषा में भी ग्रंथों की रचना करें।"

यह एक निर्विवादित सत्य है कि अभी भी देश के विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य दर्शनों की ही प्रमुखता है, तथापि विद्वानों के व्यक्तिगत प्रयासों से, सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं के प्रयास से, और संस्कृत विश्वविद्यालयों के प्रयासों से भारतीय वाड़्.मय पर कार्य करने की प्रवृत्ति में न्यूनाधिक वृद्धि हो रही है। देश में कुछ ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने दर्शनशास्त्र के मौलिक ग्रंथों का अनुंवाद एवं व्याख्या किया है। उनमें आनन्द झा, स्वामी योगीन्द्रानन्द, दुर्गाधर झा, खड्ग नाथ मिश्र, श्याम मनोहर गोस्वामी, केदार नाथ तिवारी, विश्वम्भर पाहि, और युवा अध्येताओं में अम्बिका दत्त शर्मा तथा सच्चिदानन्द मिश्र प्रमुख हैं।

सरकारी संस्थाओं में दर्शन के क्षेत्र में भरतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् और भारतीय विज्ञान, दर्शन, और संस्कृति के इतिहास की परियोजना का नाम लेना आवश्यक है। ये दोनों संस्थाओं का गठन भारत सरकार द्वारा भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के उन्नयन के लिये ही किया गया था, परन्तु इन संस्थाओं में व्यक्ति– विशेषों का ही प्रभाव रहता है जिससे कार्य क़रने के लिये सही विद्वानों का प्रवेश वर्जित हो जाता है। पुनः विद्वानों के उन समुदाय–विशेषों को हिन्दी के प्रति अनुराग के अभाव से तथा मौलिक ग्रंथों के ज्ञान के अभाव से हिन्दी में उन विषयों पर कार्य का पूर्ण अभाव देखा जा सकता है। विश्वविद्यालयों के ये तथाकथित दार्शनिक अंग्रेजी में ही स्वयं को व्यक्त करते हैं और पाश्चात्य दर्शन पर ही अधिकाधिक कार्य करना चाहते

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं। प्रोफेसर डी.पी. चट्टोपध्याय, प्रोफेसर आर. बालासुब्रमण्यम, प्रोफेसर मृणाल मीरी, प्रफेसर बेंकटाचलम, श्री किरीट जोशी, प्रोफेसर के.आर. राव, प्रोफेसर मृणाल मीरी क्रमशः अभी तक भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के अध्यक्ष मनोनित किये जाते रहे हैं। इनमें से बालसुब्रमण्यम के अतिरिक्त किसी का भी शोध भरतीय वाड्.मय पर नहीं है। इन लोगों के शोधकार्यों के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इन लोगों को संस्कृत और हिन्दी भाषा के प्रति अनुराग नहीं था। सम्प्रति अध्यक्ष प्रोफेसर एस.आर. भट्ट भरतीय दर्शन के और हिन्दी क्षेत्र के अवश्य हैं परन्तु यह भविष्य ही कहेगा कि इनकी अध्यक्षता में भरतीय दर्शन पर कितना मौलिक कार्य हो पाता है। अपने गठन के समय से लेकर अभी तक संगोष्ठी में पढ़े गये लेखों का प्रकाशन उपलब्ध नहीं है जिससे कि उन लेखों की गुणवत्ता का निष्पक्ष मूल्यांकन पाठक द्वारा किया जा सके। संगोष्ठी में प्रस्तुत विद्वानों के विचार संगोष्ठी के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। इन संस्थाओं का गठन मूल रूप से भरतीय दर्शन एवं संस्कृति के उन्नयन के लिये ही किया गया था। अतएव इन संस्थाओं का दायित्व है कि वे भारतीय दर्शन के मौलिक ग्रंथों पर अधिकाधिक कार्य करने को प्रोत्साहित करें। भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् का पुस्तकालय लखनऊ में है और इस पुस्तकालय में 40000 के आसपास पुस्तकें हैं। इन पुस्तकों में भारतीय दर्शन के मूल ग्रंथों की संख्या 100 से अधिक नहीं है, और भारतीय दर्शन के संदर्भ ग्रंथों की संख्या 500 से अधिक नहीं है। अधिकाधिक पुस्तक पाश्चात्य दर्शन परम्परा पर ही हैं। परिषद् अपने पुस्तकालय के लिये प्रति वर्ष तीस लाख रुपये से अधिक की पत्रिकाओं का संचयन करता है परन्तु हिन्दी की एक भी पत्रिका का संचय नहीं होता है। सभी विदेशी दर्शन पर विदेशी पत्रिकायें ही लिये जाते हैं। इस संस्था की मुख पत्रिका हिन्दी में नहीं अपितु अंग्रेजी में प्रकाशित होती है। इन संस्थाओं में हिन्दी की स्थिति को शल्यजी ने स्पष्ट भाषा में कहा है कि– "भरतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् ने जबकि 100 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित कर दी हैं, उनमें हिन्दी में केवल दो पुस्तकें ही हैं, अन्य कोई नहीं। न किसी अन्य भारतीय भाषा में कोई पुस्तक प्रकाशित की है। विटगेन्सटाइन के दो–तीन पस्तकों के अनुवादों को हिन्दी की पुस्तकें कहना अनुचित होगा। यहाँ बात हिन्दी या भरतीय भाषाओं की नहीं, पूरी मानसिकता की है जो भाषा से जुड़ी हुई है।" (समेकित दार्शनिक विमर्श, सम्पादक, अम्बिका दत्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शर्मा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, पृ 6) शल्यजी के इस कथन के पन्द्रह वर्ष के पश्चात् भी हिन्दी में अम्बिका दत्त शर्मा और सच्चिदानन्द मिश्र द्वारा सम्पादित भरतीय वाङ्.मय पर आधारित एक पुस्तक ही कठिनता से प्रकाशित हो पाई है। इससे परिषद् के अध्यक्षों की और नीतिनिर्धारकों की भारतीय वाङ्.मय और भाषाओं के प्रति उपेक्षा का भाव तथा उनकी औपनिवेशिक मानसिकता ही सिद्ध होती है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तत्काल बाद बिहार सरकार द्वारा बिहार के गौरवशाली बौद्धिक एवं राजनैतिक इतिहास को विश्व के समक्ष प्रस्तुत करने के लिये मिथिला संस्कृत शोध संस्थान (दरभंगा) के आदर्श पर जैन और प्राकृत शोध संस्थान (वैशाली), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् (पटना), काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान (पटना), अनुग्रह नारायण सिंह शोध संस्थान (पटना) और नव नालन्दा महाविहार (नालंदा) स्थापित किया गया था। ये शोध संस्थान अपने आरम्भिक दिनों में क्रियाशील रहे परन्तु समय के साथ राजनैतिक कारणों से उन संस्थानों की अधोगति होने लगी और वर्तमान में ये सभी निष्क्रिय प्राय ही हैं।

भारतीय विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों में भारतीय दर्शन के क्षेत्र में राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन शास्त्र विभाग का कार्य प्रशंसनीय है। भारतीय विश्वविद्यांलयों में दर्शनशास्त्र का कोई भी विभाग उतना अधिक प्रकाशन का कार्य नहीं किया है जितना कि राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग द्वारा किया गया है। द्वितीयतः इस विभाग द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि यदि अध्यापक में क्षमता हो तो हिन्दी माध्यम से भी छात्रों को मौलिक शिक्षा दी जा सकती है। दयाकृष्ण, विश्वम्भर पाहि, राजेन्द स्वरूप भटनागर जैसे विद्वान् हिन्दी माध्यम से ही वहाँ अध्यापन कार्य करते थे। इस विभाग से भारतीय वाङ्.मय पर पंडित खड्ग नाथ मिश्र, पंडित दुर्गाधर झा, विश्वम्भर पाहि जैसे विद्वानों के कार्य हिन्दी में प्रकाशित किये जा चुके हैं।

इस देश के गैर सरकारी संस्थाओं में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् और दर्शन प्रतिष्ठान (जयपुर) का नाम उल्लेखनीय है। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् दर्शन के क्षेत्र मे स्वातंत्र्योत्तर भारत की एक सृजनशील संस्था के रूप में स्वयं को स्थापित किया है। इस संस्था की स्थापना के पीछे भीखन लाल आत्रेय, नन्द किशोर देवराज, यशदेव शल्य जैसे महापुरुषों की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मुख्य भूमिका रही है। इसके संस्थापक यशदेव शल्य की यह मान्यता थी कि किसी भी देश की संस्कृति का मौलिक बोध उसकी भाषा में ही संभव है, फलतः हिन्दी भाषा हमारी सांस्कृतिक मूल्य–बोध की प्राणदा शक्ति है। हमारे विचारों का जन्म भाषा में ही होने से भाषायी स्वतन्त्रता के बिना वैचारिक स्वतन्त्रता संभव नहीं है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए भारत के वैचारिक स्वराज के लिये तथा उसको अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित करने के लिये इस संस्था की स्थापना की गयी थी। परिषद् की स्थापना के साथ ही साथ परिषद् अपनी पत्रिका 'दार्शनिक त्रैमासिक' का प्रकाशन आरम्भ किया था जो आजतक निर्बाध गति से प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका के माध्यम से परिषद् राष्ट्रभाषा में भारतीय चिन्तन पर आधारित लेखों के अतिरिक्त अन्यान्य विषयों पर भी लेख प्रकाशित होते आ रहे हैं। इस पत्रिका का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि यह पत्रिका नवोदित लेखकों के लेखों को प्रकाशित कर और उन्हें उत्साहित कर उन नवोदित लेखकों को प्रौढ़ लेखकों और गम्भीर चिन्तकों के रूप में परिवर्तित किया है। ऐसे लेखकों और चिन्तकों में भीखन लाल आत्रेय, एन.के. देवराज, संगम लाल पाण्डेय, यशदेव शल्य, रामजी सिंह, नवजीवन रस्तोगी, एस.पी. दूबे, सभाजीत मिश्र, अम्बिका दत्त शर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। परिषद् और परिषद् की पत्रिका के प्रयास का ही यह परिणाम है कि ये विद्वान आज प्रतिष्ठित लेखक और चिन्तक के रूप में अवस्थित हैं। अपने उद्देश्य के अनुसार यह परिषद् राष्ट्रभाषा की सेवा करते हुए दो दर्जनों से अधिक ग्रंथों का प्रकाशन कर चुका है। इन पुस्तकों में के. सच्चिदानन्द मूर्त्ति द्वारा सम्पादित 'समकालीन भरतीय दर्शन' (1962) एक कालजयी कीर्ति है। इस ग्रंथ में सम्पूर्णानन्द, एन.एस. द्रविड, बी.जी. तिवारी, संगम लाल पाण्डेय, आर.के. त्रिपाठी, एस एस बारलिंगे, राजेन्द्र प्रसाद जैसे विद्वानों के लेख सम्मिलित हैं। परिषद् अम्बिका दत्त शर्मा द्वारा सम्पादित चार खंडों में स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण और दार्शनिक–चिन्तन–सृजन–ग्रंथमाला के अन्तर्गत चार ग्रंथ राष्ट्रभाषा में प्रकाशित कर चुका है। इस ग्रंथमाला के अन्तर्गत नारायण शास्त्री द्रविड़ का 'भरतीय दर्शन की मूलगामी समस्यायें', श्याम मनोहर गोस्वामी का 'साकार ब्रह्मवाद', नवजीवन रस्तोगी का 'अभिनवगुप्त का तन्त्रागमीय दर्शन' प्रकाशित हो चुके हैं। स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण के चार खंडों में अनेकानेक विद्वानों के लेख संकलित हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिषद् का ये दोनों ही कार्य अतुलनीय कहे जा सकते हैं क्योंकि ऐसा कार्य राष्ट्रभाषा में दर्शन के क्षेत्र में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। परिषद् द्वारा ये सभी कार्य किसी संस्था से वित्तीय सहायता ग्रहण किये बिना किये गये हैं। अखिल भरतीय दर्शन परिषद् के अतिरिक्त दर्शन के क्षेत्र में यशदेव शल्य द्वारा स्थापित 'दर्शन–प्रतिष्ठान' का नाम भी उल्लेखनीय है। विगत तीस वर्षों से यह संस्था 'उन्मीलन' नामक पत्रिका राष्ट्रभाषा में प्रकाशित कर रही है। हिन्दी साहित्य एवं दर्शन के गंभीर आलेखों को प्रकाशित कर यह पत्रिका हिन्दी जगत् में एक मानक पत्रिका के रूप में स्वयं को स्थापित किया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि भारत में सम्प्रति सृजनात्मक दार्शनिक चिन्तन इसी पत्रिका के माध्यम से हो रहा है। जिस प्रकार से ये दोनों संस्थायें राष्ट्रभाषा के माध्यम से दर्शन की सेवा में लीन है वह किसी भी अन्य संस्था के लिये प्रेरणा और स्पर्धा का विषय है।

भारतीय वाङ्.मय की दिशा निर्धारित करना हमारे लिये दशा चित्रित करने से अधिक कठिन है। भारतीय दर्शन के अध्येता दर्शन को भारतीय जीवन–दर्शन एवं मूल्यों से इतना अधिक पृथक् कर दिये हैं कि वे दोनों के सम्बन्धों को देख नहीं पाते हैं। अधिकांश अध्येताओं के लिये भरतीय दर्शन का अध्ययन जीविकोपार्जन का साधन मात्र रह गया है। इस परिस्थिति में भी यशदेव शल्य, विश्वम्भर पाहि, मुकुन्द लाठ, रमेशचन्द्र शाह और अम्बिका दत्त शर्मा अपनी–अपनी लेखनी से भारतीय वाङ्.मय को नई दिशा देने का प्रयास किया है। यशदेव शल्य औपचारिक शिक्षा ग्रहण किये बिना अपने मौलिक चिन्तन को हिन्दी में व्यक्त करने के लिये समर्थ भाषा का गठन करते हुए अपने अनेक ग्रंथों में अनुभववाद को खंडित कर चिदद्वैतवादी तत्त्वमीमांसा को नये प्रारूप में प्रतिष्ठित करते हैं। अनुभववाद को खंडित करते हुए वे कहते हैं कि ज्ञान के क्षेत्र में मात्र संवेदन प्रदत्त वस्तु को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अनुभववाद में उनके अनुसार संवेदन प्रदत्त वस्तु और वस्तु के मध्य द्वैध बना रह जाता है। पाश्चात्य अनुभववाद से उतीर्ण हो कर वे मानवीय सर्जना की चिदद्वैतवादी तत्त्वमीमांसा को एक सम्पूर्ण दार्शनिक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया है (द्रष्टव्य, यशदेवशल्य समग्र आमुख, अम्बिकादत्त शर्मा, डी.के. प्रिंट वर्ल्ड, दिल्ली, 2017) मुकुन्द लाठ विश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण करते हुए शास्त्र के गतिरोध को भंग करते हैं। अम्बिका दत्त शर्मा बौद्ध–दर्शन एवं न्याय के एक विविष्ट विद्वान्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं और वे तन्त्र के अन्तर्गत किसी संकल्पना का विश्लेषण करते समय उस तन्त्र की अन्य संकल्पनाओं के साथ संगति स्थापित करते हैं। हिन्दी भाषा में भरतीय दर्शन के मौलिक ग्रंथों पर इतना अधिक मौलिक कार्य संभवतः किसी अन्य का नहीं है।

रमेशचन्द्र शाह दर्शन का गतिरोध साहित्य के माध्यम से भंग करना चाहते हैं। वे साहित्यकार को निर्देश देते हुए कहते हैं कि " हमारे साहित्यकार दर्शन की गतिविधियों से उदासीन न रहें"। (उन्मीलन, वर्श 27, अंक 1, पृ. 13) उनका कहना है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में जिन गंभीर विषयों पर चिन्तन किया गया है उन विषयों को साहित्यकार आज की परिस्थिति में, आज के जीवन और संसार के परिप्रेक्ष्य में देखें। उनका आग्रह है कि साहित्यकार को अपने सृजनात्मक कर्म में समकालीन विश्व की जटिल एवं ज्वलन्त समस्याओं का साक्षात्कार करना चाहिये। पुनः वे दर्शन विभागों के प्रोफेसरान से निवेदन करते हैं कि जो "महज पुरानी बातों के पिष्टपेषण से या पश्चिमी दार्शनिक सिद्धान्तों पर परचे लिखकर ही अपने को कृतकार्य समझ लेते हैं, वे अपने पेशेवर कर्म को स्वधर्म की गरिमा दें। "(उन्मीलन, वर्ष 27, अंक 1, जनवरी 2013, पृ 13) पुनः उनका निवेदन है कि वे भारतीय साहित्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध बनायें। अपने इस लेख में रमेशचन्द्र शाह लिखते हैं कि – "दर्शन के क्षेत्र में गतिरोध टूटने की संभावनाएँ स्वयं भाषा और साहित्य के क्षेत्र से मिल सकने वाली अन्तर्दृष्टियों में निहित है।" (उन्मीलन, वर्ष 27, अंक 1, जनवरी 2013, पृ 16) इस प्रकार शाह महोदय दर्शनशास्त्र और साहित्य को समन्वित कर दर्शनशास्त्र के प्राण को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं। आज से पैंतिस वर्ष पूर्व मैं स्वयं हिन्दी तथा मैथिली साहित्य के प्रसिद्ध कथाकार और उपन्यासकार राजकमल चौधरी को अपने एक लेख में भारतीय अस्तित्त्ववादी कहने का प्रयास किया था और उस प्रकार से साहित्य और दर्शन में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया था। (प्रकाशक – मिथिला मिहिर, पटना)

साहित्य और दर्शनशास्त्र के बीच का द्वैध भाव भी मेकॉले की शिक्षानीति का ही परिणाम है क्योंकि न्याय–वैशेषिक दर्शन के आचार्यों ने साहित्य पर भी उसी मनोयोग से लिखा है जिस मनोयोग से उन्होंने न्याय–वैशेषिक ग्रंथों का प्रणयन किया है। संस्कृत माध्यम से जिन्होंने दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया है उन्होंने साहित्य और दर्शन को सदैव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समन्वित करने का प्रयास किया है। साहित्य और न्याय–वैशेषिक को समन्वित करने का प्रयास वैशेषिकसूत्र के प्रथम टीकाकार उपस्कारकार श्री शंकर मिश्र रसार्णव और गौरीदिगम्बरप्रहसन में, तथा रस शास्त्र और न्याय को समन्वित करने का प्रयास मम्मट अपने काव्यप्रकाश में और भरत के नाट्यशास्त्र के सूत्रों की व्याख्या करने के क्रम में करते हैं। वैयाकरण नागेशभट्ट भी अपने लघुशब्देन्दुशेखर में न्याय के विभिन्न संकल्पनाओं की सहायता से व्याकरण के विभिन्न सूत्रों की व्याख्या करते हैं। न्याय और व्याकरण का समन्वय उद्योतकर के वार्तिक से लेकर गदाधर भट्टाचार्य के व्युत्पत्तिवाद और बच्चा झा के गूढार्थतत्त्वालोक तक देखा जा सकता है। पुनः आधुनिक भारतीय भाषा एवं साहित्य के पितामह विद्यापति ठक्कुर की पुरुषपरीक्षा एक ऐसा ग्रंथ है जहाँ साहित्य के माध्यम से दर्शन को अभिव्यक्त किया गया है। इस ग्रंथ में दर्शन और साहित्य का परिसेचन (क्रासफर्टिलाइ–जेसन) स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है। जिसे आज के समय में पाश्चात्य जगत् में वर्च्यूएथिक्स कहते हैं उस विधा का भारतीय परम्परा में यह एक अनुपम ग्रंथ है। पुरुषपरीक्षा और कौटिल्य के अर्थशास्त्र को आधार बनाकर मैने स्वयं एक लेख लिखा था जो विजय एच. बरुआ द्वारा सम्पादित 'धर्म एण्ड एथिक्स' नामक ग्रंथ का एक अध्याय है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में फणीश्वरनाथ रेणु ने जिस प्रकार से तत्कालीन समाजिक–राजनैतिक दर्शन को संवेदनशील भाषा में चित्रित किया है वह किसी भी बुद्धिजीवी के लिंये एक अनुकरणीय उदाहरण है। अतः श्री रमेशचन्द्र शाह का मन्तव्य भरतीय परम्परा की एक वास्तविक अपेक्षा है और उनके विचार को आधारहीन नहीं कहा जा सकता है।

विश्वम्भर पाहि के 'वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श' को मैं विगत 50 वर्षों में हिन्दी में लिखे गये शोध–ग्रंथों में एक महत्त्वपूर्ण शोध–ग्रंथ मानता हूँ। पाहि साहब पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा रखते हुए शास्त्र के विकास के लिये विचारस्वातंत्र्य को आवश्यक मानते हैं। वे इस पुस्तक के भूमिका में लिखते हैं – "अनुभव में प्रतिष्ठित एवं युक्तियों से परीक्षित पूर्वाचार्यसम्मत आधारभूत सिद्धान्तों के प्रति वैचारिक निष्ठा तथा सर्जनशीलता के लिये अपेक्षित विचारस्वातंत्र्य के बिना दार्शनिक परम्पराओं का सहज विकास संभव नहीं होता है।" (विश्वम्भर पाहि, भूमिका, पृ. 1, वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श, दर्शनशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) न्याय–वैशेषिक परम्परा में भाष्य से लेकर अद्यपर्यन्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जितने भी मौलिक ग्रंथ हैं, उन सभी में तन्त्रान्तर्गत विचारस्वातंत्र्य को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसीलिये तो हमें शास्त्रों के अन्तर्गत अनेक प्रस्थान देखने को मिलते हैं। यदि अपरीक्षित विचार ही प्रमाण हों तो न्यायशास्त्र में परीक्षा–सूत्रों का कोई औचित्य नहीं रह जाता है। इसी का संकेत करते हुए भासर्वज्ञ अपने न्यायभूषण में लिखते हैं – "यदि चाविचारितमेव सूत्रकारवचः प्रमाणं परीक्षासूत्राणां तर्हि वैयर्थ्यं स्यात्।" (भासर्वज्ञ, न्यायभूषणम् , स्वामी योगीन्द्रानन्द द्वारा सम्पादित, चौखम्बा , पृ 98) न्यायशास्त्र की तीन प्रवृत्तियाँ होती हैं – उद्देश, लक्षण और परीक्षा। परीक्षा के उपरान्त ही लक्षण को स्वीकार किया जाता है और विचार स्वातंत्र्य के बिना परीक्षा संभव नहीं है। अतएव शास्त्रकार के प्रति निष्ठा और विचारस्वातंत्र्य के मध्य सेतु स्थापित करके ही शास्त्र को विकसित किया जा सकता है। न्यायानुसारी विचार पद्धति का कार्य सिद्धान्तों के मध्य संगति को स्थापित करना होता है और उसके लिये वह लक्षण का परिष्कार करता है। पुनः परिष्कार विचारस्वातंत्र्य के बिना संभव नहीं है। अतएव भारतीय वाङ्.मय के विकास के लिये तन्त्र के अन्तर्गत वैचारिक स्वतन्त्रता अपेक्षित है। शास्त्रों में भी सिद्धान्तों का संरक्षण येन केन प्रकारेण नहीं किया गया है। ऐसा करने से युक्ति में विसंगति उत्पन्न होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता है। न्यायशास्त्र के सुदीर्घ इतिहास के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि तन्त्र के अन्तर्गत विचारस्वातंत्र्य के माध्यम से पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों का संरक्षण ही नहीं परिष्कार भी किया गया है। अतएव साहित्य और शास्त्र का समन्वय, एवं तन्त्रान्तर्गत वैचारिक स्वतन्त्रता ही भारतीय वाङ्.मय के विकास की कुंजी है। आज इसी प्रवृत्ति का फिर से पुनराविष्कार कर परम्परा की सातत्यता को पुनर्जीवित करने की महती आवश्यकता है।

अरुण मिश्र
सी – 1/69 (पार्कप्लाजा के पीछे)
सेक्टर – 55, नोईडा – 201301

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

औपनिषद् आत्मवादी विचारधारा एवं रहस्यवाद

अरविन्द कुमार राय

विषयकरन सुरजीव समेता, सकल एक से एक सचेता।
सबकर परम प्रकाशक जोई, राम अनादि अवध पति सोई।।[1]

रामचरितमानस के बालकाण्ड की इस चौपाई से अनेक रहस्यवादी सिद्धान्तों को आसानी से प्रदर्शित किया जा सकता है। यदि राम को सच्चिदानन्दस्वरूप लेते हैं तथा जीव का ब्रह्म से अभेद स्थापित करते हुए विषय आदि को मायामय लेते हैं, तो अद्वैतवादी रहस्यात्मक सिद्धान्त की उपलब्धि होती है। यदि जीव और विषय आदि प्रकृति को ब्रह्म का विशेषण मानते हैं, तो विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्त की प्राप्ति होती है। यदि ब्रह्म, जीव, विषय आदि प्राकृतिक पदार्थों में भेद मानते हैं, तो द्वैतवादी सिद्धान्त की उपलब्धि होती है। रहस्यवादी सिद्धान्त के स्वरूप का निर्धारण राम, जीव तथा विषय आदि पदार्थों के स्वरूप तथा उनके मध्य सम्बन्ध के स्वरूप पर निर्भर है। राम को निर्गुण और सगुण लेने पर निर्गुण–सगुणात्मक विचारधारा में तथा केवल सगुण मानने पर सगुणात्मक विचारधारा में मान्य रहस्यवादी सिद्धान्त की उपलब्धि होगी। लेकिन इन सभी प्रकार के रहस्यवादी सिद्धान्तों में ज्ञान, भक्ति, कर्म या इन तीनों के माध्यम से प्रेरक की अनुभूति ही रहस्यात्मक अनुभूति है। यह प्रेरक 'सत्यस्य सत्यम्' है। इसलिए 'नेति नेति' के माध्यम से इसका निर्देश किया जाता है।[2] यह अवर्णनीय है, विदित तथा अविदित दोनों से परे है (अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि)। यही वाणी और मन को उनके व्यापार में प्रवर्तित करता है। इसकी झलक प्रत्येक बोध में मिलती है।[3] इसी की अनुभूति रहस्यात्मक अनुभूति है। इसी से परम प्रेम रहस्यात्मक अनुभूति का सार है।[4]

रहस्यवाद अंग्रेजी के 'मिस्टीसिज्म' शब्द का अनुवाद है। आक्सफोर्ड, वेबेस्टर आदि शब्दकोशों में इसके दो प्रमुख अर्थ दिये गये हैं; (1) इस धार्मिक अनुभूति में व्यक्ति परमसत्ता या मूलसत्ता के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। (2) यह एक निन्दावाचक शब्द है, जो अस्पष्ट तथा भ्रान्त धार्मिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विश्वासों को सूचित करता है। विलियम जेम्स, जेनर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने प्रथम अर्थ के साथ ही सहानुभूति दिखाई है। अवर्णनीयता और अनुभवकर्त्ता के लिए इसकी प्रमाणिकता (ineffability and noetic-quality), विलियम जेम्स के अनुसार, रहस्यवादी अनुभूति के अनिवार्य धर्म हैं, अन्य धर्म आगन्तुक हैं। विलियम जेम्स के अनुसार इस अनुभूति में अनुभवकर्त्ता और निरपेक्ष सत्ता के मध्य सभी दिवारें टूट जाती हैं।[5] आर.सी. जेनर ने भी इसी विचार का समर्थन किया है। रहस्यवाद का विवेचन करते समय इस निबन्ध में इसी पहलू का ध्यान रखा गया है।

रहस्यात्मक अनुभूति का अत्यन्त प्राचीन उदाहरण वैदिक ऋषि वामदेव के उदाहरण में मिलता है। उपनिषदों के दो महावाक्यों– 'प्रज्ञानं ब्रह्म' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' का विवेचन करते समय ऐतरेय और बृहदारण्यक में क्रमशः उनकी अनुभूति का उल्लेख है। उन्हें सर्वात्मभाव की प्राप्ति हुई। वे ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के ऋषि हैं। उन्हें अनुभूति हुई कि 'मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ', मैंने ही शब्द करते हुए जल को प्रेरित किया। मेरी इच्छा पर ही सभी देवता चलते हैं.... ।[6] उनकी सभी कामनाएँ ऐतरेयोपनिषद् के अनुसार पूर्ण हो गयीं तथा वे अमर हो गये।[7] 'आत्मा' का अर्थ सर्वस्व पहुँचा हुआ सा होता है' क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है।[8] अतः आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान के होने पर सर्वात्मभाव की प्राप्ति स्वाभाविक है।

जान हिक ने दो प्रकार के रहस्यात्मक सिद्धान्तों में भेद किया है– एकतत्त्वनिष्ठरहस्यात्मक सिद्धान्त तथा एकतत्त्वभावनिष्ठ रहस्यात्मक सिद्धान्त (literal mysticism and metaphorical mysticism) प्रथम प्रकार के उदाहरण के रूप में वे अद्वैत वेदान्त तथा नवप्लेटोवाद को लेते हैं तथा द्वितीय प्रकार के उदाहरण में वह यहूदी, इसाई और सूफी रहस्यवादियों को रखते हैं।[9] द्वितीय प्रकार के रहस्यवादी हिक के अनुसार, भावनात्मक एकता को प्रधानता देते हैं। परमतत्त्व और अनुभवकर्त्ता में भावनात्मक एकता होती है, तत्त्वात्मक नहीं। वे सूफी रहस्यवादियों का उदाहरण देते हुए अल–गज़ाली को उद्धृत करते हैं, जो यह कहता है कि 'रहस्यात्मक अनुभूति की अवस्था में साधक की स्थिति नशे में डूबे प्रेमी की तरह होती है। वहाँ उन्हें ईश्वरीय आवेश के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं सूझता है। लेकिन जब यह नशा उतरता है तथा उन्हें होश आता है, तो उन्हें बुद्धि की मर्यादा का बोध हो जाता है। इस धरा पर बुद्धि ईश्वरीय मापक है। वे समझ जाते हैं कि ये भावावेश था, तात्त्विक एकता का बोध नहीं था।[10] वे समझ जाते हैं कि रहस्यात्मक अनुभूति भावावेश का फल थी, तात्त्विक एकता का नहीं।'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एकतत्त्ववादी रहस्यवाद का प्रमुख उदाहरण अद्वैत दर्शन है। उपनिषदों के वाक्यों, महावाक्यों आदि के दर्शन, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से यह अनुभूति होती है। अणु से भी अणु तथा महान से भी महान आत्मा प्राणी के अन्तःकरण में स्थित है। उस विषयभोग शून्य महिमामय आत्मा को विधाता की कृपा से ईश्वर रूप में देखता है, वह शोक रहित हो जाता है।[11] आत्मा सर्वव्यापक है तथा हमारे सभी बोध और व्यवहारों का साक्षी है। इसकी अनुभूति 'दशमस्तु' के बोध की तरह होती है। हुसर्ल की संवृत्तीय पद्धति का अनुसरण कर इसे सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। हुसर्ल के अनुसार चेतना विषयोन्मुखी होती है (consciousness is intentional)। अतः प्रत्येक बोध में दो ध्रुव अवश्य होते हैं; विषयी ध्रुव तथा विषय ध्रुव। ये दोनों ध्रुव गंगोत्री और गंगासागर के सदृश हैं तथा बोधगंगा गंगोत्री से गंगासागर की ओर प्रवाहित होती है। दर्शन का प्रारम्भ विषयी या आत्मा के अनुसंधान से प्रारम्भ होता है। देकार्त ने इसी अनुसंधान को प्राथमिकता देकर पाश्चात्य दर्शन को एक नई दिशा देने का प्रयास किया। देकार्त ने प्रतिपादन किया कि आत्मबोध सभी बोधों का मानदण्ड है तथा जो बोध इस बोध के सदृश सुस्पष्ट और साफ होगा वही प्रमात्मक माना जायेगा। देकार्त का योगदान प्रशंसनीय है। लेकिन उनके दर्शन में एक बहकाव आया जब उन्होंने प्रागनुभाविक चेतना (transcendental self) और प्राकृतिक चेतना या आनुभविक चेतना (natural or empirical self) में भेद नहीं किया। इसलिए जो आत्मा विषय छोर पर स्थित है, उसे ही विषयी–आत्मा मानने लगे। गंगासागर को ही वह गंगोत्री समझ बैठे। यह देकार्त की, हुसर्ल के अनुसार, भूल थी। प्रागानुभविक चेतना सर्वदा विषयी रहता है कभी विषय नहीं बनता है। विषय छोर पर आभासित चेतना प्राकृतिक चेतना होती है। यह शुद्ध नहीं होती है। यह ऐतिहासिक है, जगत् का एक अंग है, जीव विज्ञान, भौतिक विज्ञान आदि की दृष्टि से अध्ययन का विषय है। लेकिन प्रागनुभविक चेतना प्रतिबोधगम्य है, प्रत्येक दशा में विषयी रहता है।[12] हुसर्ल विषयी क्षेत्र को ट्रान्सेंडेन्टल तथा जगत् (विषय क्षेत्र) को ट्रांसेंडेन्ट कहता है। केनोपनिषद् की व्याख्या में आचार्य शंकर की व्याख्या भी कुछ इसी प्रकार की है।

वे कहते हैं कि "जिस समय ब्रह्म को प्रतीतियों के अन्तः साक्षी स्वरूप से जाना जाता है, उसी समय वह ज्ञात होता है;[13] अर्थात् यही उसका सम्यक् ज्ञान है। सम्पूर्ण प्रतीतियों का साक्षी होने पर ही उसका वृद्धिक्षयशून्य–साक्षित्व, नित्यत्व, विशुद्धस्वरूपत्व, आत्मत्व, निर्विशेषत्व और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्पूर्ण भूतों में एकत्व सिद्ध हो सकता है। इस निर्विशेष तत्त्व की अनुभूति ही रहस्यात्मक अनुभूति है। इस अनुभूति का कोई प्रतियोगी नहीं है। 'घट' और 'घटाभाव' ये परस्पर एक दूसरे के प्रतियोगी हैं, लेकिन उनको प्रकाशित करने वाली अनुभूति इन दोनों में अन्तर्भूत है। इस अनभूति की कोई प्रतियोगी अनुभूति नहीं होती है।[14] इसलिए यह सभी अनुभूतियों में होते हुए भी छुपी रहती है, जैसा की रूमी ने कहा है– *Hidden things, then are manifested by means of their opposite; since God hath no opposite he is hidden.*

ई. श्रोडिंगर (1887–1961) का क्वांटम यांत्रिकी के उत्थान में अभूतपूर्व योगदान रहा है। उन्हें 1933 में नोबेल पुरस्कार मिला। उन्होंने अत्यन्त उत्साह से अपने ढंग से 'तत्त्वमसि' का अनुमोदन किया है। वे वेदान्त दर्शन से अत्यन्त प्रभावित थे। उनका कहना है कि चेतना की अनुभूति कभी भी बहुकेन्द्रीयरूप में नहीं होती है। इसकी अनुभूति असामान्य या किसी भी अवस्था में एक केन्द्रीय होती है। जहाँ एक ही शरीर में असामान्यावस्था में दो आत्माओं की अनुभूति होती है, वहाँ भी दोनों की साथ अनुभूति नहीं होती है। वे पूर्वीय और पश्चिमी दर्शनों में प्रतिपादित इस सिद्धान्त के आलोचक हैं कि चेतना प्रत्येक शरीर के लिए पृथक्–पृथक् होती है, जिस प्रकार गौरीशंकर या एवरेस्ट चोटी अनेक घाटियों से देखने पर भिन्न–भिन्न रूप में दिखाई पड़ती है, ठीक उसी प्रकार माया के कारण अपरोक्ष चैतन्य जो एक है, भिन्न–भिन्न प्रतीत होता है।[15]

यद्यपि विशुद्ध संदेहवाद का कोई उपचार नहीं है, लेकिन उपनिषदों ने उन्हें भी ओंकार विद्या के माध्यम से संभालने का प्रयास किया है। जो लोग संदेहवाद का आश्रय लेकर आत्मवाद का खंडन करते हैं, वे आत्मा को शरीर रूपी घर में सुरक्षित वस्तु की तरह देखते हैं। जैसे घर में अनेक वस्तुएँ सुरक्षित रहती हैं, उसी प्रकार हमारे शरीर रूपी घर में आत्मा सुरक्षित है। इस प्रकार की आत्मा को शरीर में न पाकर संदेहवादी आत्मवाद का खंडन करता है। संदेहवादियों के आक्षेपों को निरस्त करने के लिए उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मा का अक्षर स्वरूप ध्यातव्य है। आत्मा प्रणवाक्षर स्वरूप है। ओंकार आत्मा का स्थूल ईंधन है। इस रूप से आत्मा अत्यन्त सुलभ है। आत्मा अग्नि के सदृश है और ओंकार उसका ईंधन है। जिस प्रकार अग्नि काष्ठ में होती है लेकिन दिखाई नहीं पड़ती है, ठीक उसी प्रकार आत्मा की स्थिति शरीर में है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है, कि "जिस प्रकार अपने आश्रय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(काष्ठ) में स्थिति अग्नि दिखाई नहीं पड़ती है, न ही उसके लिंग (काष्ठ) का नाश रहता है और फिर ईंधन रूप कारण के द्वारा ही उसका ग्रहण हो सकता है उसी प्रकार अग्नि और अग्नि लिङ्ग के समान ही देह में आत्मा और प्रणव (आत्म लिङ्ग) का ग्रहण होता है।[16] देह रूपी अरणि और प्रणव रूपी उत्तरारणि को ध्यानरूप मंथन के अभ्यास से छिपे देवात्मा का साक्षात्कार होता है।[17] उपनिषदें आत्मा के प्रतिपादन में शाब्दिक विधि, आत्मनिष्ठ, वस्तुनिष्ठ तथा प्रपंचातीत–निष्ठ (transcendental) दृष्टियों का समन्वय करती हैं। प्रणवाक्षर को वाणी के माध्यम से कहा जाता है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इसका उत्स आत्मनिष्ठ है; इसे श्रोत्र के माध्यम से सुना जाता है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इसका स्रोत वस्तुनिष्ठ है; इसके प्रयोग से तुरीयावस्था की प्राप्ति होती है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इसका मूल प्रपंचातीत अद्वैतात्मा में है। आत्मा प्रकाशों का प्रकाश है, लेकिन आत्मा अध्यक्षर भी है, अर्थात् अक्षर की प्रधानता से इसका वर्णन किया जा सकता हैं। माण्डूक्योपनिषद् में चेतना की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है। आत्मा के चार पादों के अनुरूप ओंकार के भी चार पाद हैं, जिसे निम्नांकित सारिणी से प्रदर्शित किया जा सकता है –

प्रणव–अक्षर	अवस्था	आत्मा का स्वरूप	प्रमुख विशेषताएँ
अकार	जाग्रत्–अवस्था	वैश्वानर	बाह्य विषयों को प्रकाशित करने वाला तथा स्थूल विषयों का भोक्ता।
उकार	स्वप्न–अवस्था	तैजस	आन्तरिक विषयों को प्रकाशित करने वाला तथा सूक्ष्म विषयों का भोक्ता।
मकार	सुषुप्ति–अवस्था	प्राज्ञ	प्रज्ञान घनता तथा आनन्द का भोक्ता।
अ–मात्र	तुरीय अवस्था	अद्वैतात्मा	अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपंचोपशम, शान्त, सुख और अद्वैत स्वरूप है।

अकार, उकार तथा मकार का क्षेत्र स्पष्ट है। 'अ–मात्र' का अर्थ आचार्य गौडपाद ने 'अनन्तमात्रा' (अमात्रोऽनन्तमात्रश्च) किया है तथा स्पष्ट किया है कि प्रणव को ही सबके हृदय में स्थित ईश्वर जानना चाहिए। यह तुरीय आत्मा सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति में समर्थ है। ओंकार को जानने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाला ही वास्तविक मुनि है। वैचारिक अवस्था, स्वप्नावस्था और निद्रावस्था के आधार पर हम अनित्य से अद्वैतबोध तक ही पहुँचते हैं। तुरीयावस्था में ओंकार के आधार पर ही नित्य अद्वैतबोध की व्यवस्था है।[18]

महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराजजी तुरीयावस्था से भिन्न एक तुरीयातीत नाम की पंचम् अवस्था का वर्णन करते हैं। उनका कहना है कि जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अवस्था में से कोई भी एक साथ प्रकट नहीं होती है; जब एक प्रगट होती है तो दूसरी नहीं रहती है। लेकिन तुरीयावस्था तीनों के साथ ओत–प्रोत रूप से विद्यमान रहती है। कार्य में जैसे कारण का व्यापार रहता है, वैसे ही इन अवस्थाओं में तुरीय अवस्था व्यापक रूप से विद्यमान रहती है। वह कहते है, "तुरीय अवस्था यद्यपि शुद्ध और निर्मल है, फिर भी उसमें जाग्रत आदि भिन्न–भिन्न अवस्थाओं के कलंक विद्यमान रहते हैं। किन्तु तुरीयातीत अवस्था में यह कलंक भी नहीं रहता है।[19] कविराजजी द्वारा किया गया यह भेद साधना के प्रयोजन की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। वास्तव में तुरीयातीत ही तुरीयावस्था है जैसा कि आचार्य शंकर ने व्याख्या की है।[20]

सूफी साधकों ने भी वेदान्त की चार अवस्थाओं के सदृश चेतना की अवस्थाओं का भेद किया है। हज़रत इनायत खाँ (1882–1927) ने अपनी पुस्तक द वे ऑफ इलुमिनेशन में पाँच अवस्थाओं का उल्लेख किया है[21] – नासूत, मलकूत, जबरूत, स्वप्न–मलकुत तथा सुषुप्ति–जबरूत। प्रथम अवस्था में इन्द्रिय भोग की प्रधानता रहती है। यह आत्मा की बन्धनकारी अवस्था है। द्वितीय अवस्था वैचारिक अवस्था है। यहाँ मानव अपने कल्पनात्मक जगत् में भौतिक ज्ञान तथा सौन्दर्य का आनन्द पाता है। जाग्रत अवस्था में ही कभी–कभी हमें एक ऐसी अवस्था मिलती है, जिसमें ईश्वर की कुछ झलक सी मिलती है। इसे जबरूत कहते हैं। लेकिन यह क्षणिक होती है। स्वप्नावस्था में भी मलकूत जैसी अवस्था मिलती हैं, जिसे स्वप्न–मलकूत कहते हैं। यहूदी रहस्यवादियों के अनुसार स्वप्न, पूर्ण रहस्यात्मक अनुभूति का छठवाँ अंश है। जब आत्मा पूर्णविकसित नहीं होती है, तो ईश्वर के साथ संप्रेषण स्वप्न में होता है। निद्रा–अवस्था में पूर्ण जबरूत का राज्य रहता है। यह हमें दुःख से मुक्ति और शान्ति प्रदान करती है। स्वप्नावस्था जैसी अवस्था जब संतों द्वारा जाग्रत–अवस्था में लाया जाता है, तो इसे लाहूत कहते हैं। एक अन्य अवस्था है, जिसे हाहूत नाम दिया गया है। इसमें जाग्रत अवस्था में ही जबरूत को प्राप्त किया जाता है। यह समाधि की अवस्था है। पाँच अवस्थाएँ साधना की दृष्टि से हैं। खाँ साहब के अनुसार मुख्यतः तीन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अवस्थाएँ हैं; नासूत, मलकूत तथा जबरूत। प्रथम सामान्य मानव की अवस्था है, द्वितीय बौद्धिक वर्ग या जिन की अवस्था है तथा तृतीय देवदूतों जैसी अवस्था है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उदासीन संप्रदाय के संस्थापक भगवान् श्री चन्द्र जी महराज सूफी साधनाओं के रहस्य से परिचित थे। इसकी बानगी उनके हिन्दी रचनाओं में दिखाई पड़ती है। उन्होंने चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है: नासूत, मलकूत, जबरूत तथा फानी। निम्नांकित पद्य में उनका सूफी साधना से परिचय देखने योग्य है।[22]

मारि नफस़ सत मंजिल पाई।
नासुत, मलकुत, जबरुत, फानी चार पड़ाव हकीकत आई।
मिरअत देख्यो आत्म सरूपा मुरशिद अजरजु महक देखाई।
मूहाजात भई नूर हजूरे मजलिस आपै माहि समाई।
खुदी हुई दुहुं मुस्तहलक करि मंदिल मस्जिद एक वणाई।
कैसे पाँऊ पार मलाहत गुरु परसादि मकाम नसाई।
श्रीचंद नेकु मिजा नहि झपकै यहु जमाल किछु कथ्या न जाई।।

एक अन्य पद्य में भगवान श्री चन्द्रजी महाराज ने खिज्र, इलयास, ईसा तथा इदरिस की तुलना क्रमशः सत्य, शील, तप और दान से की है। वे कहते हैं– "सत को खिज्र, सील इलियत तप ईसा इदरिस दान हजारा। पायो फना सुआ तनुपिंजरा अक्षरी सबद अकास उचारा।" इस प्रकार सूफी साधनाओं की भाषा मध्यकाल के हिन्दू संतों में दिखाई पड़ती है। फना अवस्था में साधक अपने अहंकार को मिटाकर ईश्वर के साथ एकाकार हो जाता है। यही रहस्यानुभूति है। Mystic का अर्थ है my-stick को जलना। my-stick है– यह प्रश्न–'मैं कौन हूँ?' जैसा कि रमन महर्षि ने कहा है, *"By the enquiry 'Who am I?' the thought 'Who am I' will destroy all thought and like stick used for stirring the buring pyre, it will itself in the end get destroyed. Then, there will arise self-realization."*[23]

ऐसा नहीं है कि केवल हिन्दू संतों ने सूफीयों की भाषा ली है। सूफीओं ने भी हिन्दू संतों की भाषा ली है। एक सूफी संत और लेखक मज्झन ने मधुमालती में ओंकार की स्तुति की है–

प्रेम प्रीति सुख निधि के दाता, दुइ जग एक ओंकार विधाता।
बुद्धि पगास नाहि तुअ ताई, तुझ स्तुति जे करीय गोसाई।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कवि के अनुसार 'तूँ–तूँ, मैं–मैं' का भाव या लड़ाई ओंकार की स्तुति से हट जाती है तथा बुद्धि में परम प्रकाश दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार विभिन्न परंपराओं में रहस्यवादियों की रचनाओं पर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें युधिष्ठिर का वही कथन याद आता है, जिसमें उन्होंने जीने वालों की वासना पर यक्ष के प्रश्न का उत्तर देते समय व्यंग्य किया था। सभी परम्पराओं के रहस्यवादियों ने भाई–चारा और प्रेम की राह दिखाई है, फिर भी जगत् में इतना वैमनस्य दिखाई पड़ता है; यही आश्चर्य है।

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी, 221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *अवध का अर्थ देह है। अथर्ववेद (10, 2, 31) में कहा गया है : अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पुरयोध्या।*
2. *बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.3.6*
3. *यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम्, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदं उपासते। केन, 1.5; तथा प्रतिबोधाविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते..। केन 2.4*
4. *सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। नारदभक्तिसूत्र, 2.*
5. *Hick, John, The Fifth Diomenson से उद्धृत, (साउ्थ इण्डियन एडिशन, 2006), पृ. 142.*
6. *जैसा भगवद्गीता के 10वें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने विभूतियों का वर्णन किया है, कुछ वैसा ही वर्णन वामदेव के द्वारा ऋग्वेद 4.26 में मिलता है।*
7. *ऐतरेय, 2.1.6*
8. *आत्मा अततेर्वा, आर्प्तेवा। अपि वा आप्त इव स्यात्, यावद् व्याप्तीभूत इति– निरुक्तम् 3.3.15.*
9. *Hick, John, The Fifth Diomenson, pp. 142-160.*
10. *Ibid., p. 159.*
11. *अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोस्यजन्तोः।*
    तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्।। श्वेताश्वतर, 3.20.
12. *हुसर्ल कहता है, - am not the ego of an individual man. I am the ego in whose stream of consciousness the world itself-including myself as an object in it, a man who exists in the world-first acquires meaning and reality."Edmund Husserl, 'Paris Lecture'in Phenomenlology and existentialism (ed. by Robert C. Solomon 1972), p. 49.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

13. अतः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा, तदा तन्मतं तत् सम्यग्दर्शनमित्यर्थः। केनोपनिषद् पर शांकर–पद–भाष्य।
14. जर्मन रहस्यवादियों में एक शीर्षस्थ रहस्यवादी जैकब बोहमे (Jacob Bohme, 1575-1624) यह मानते थे कि संसार में पाये जाने वाली प्रत्येक वस्तु अपने विरोधी के कारण ही प्रत्यक्ष होती है– सरलता, कठोरता के कारण, प्रेम क्रोध के कारण, विधान निषेध के कारण। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें शुभ के साथ अशुभ नहीं है। अतः ईश्वर में भी शक्ति या शुभ के साथ उसके विरोधी अशुभ का लिंग है। यदि यह नहीं रहेगा तो ईश्वर को अपना बोध नहीं होगा। देखें, *Falckenberg, R., History of Modern Philosophy tr. by A.C. Armstrong, (Progressive Publisher Calcutta, Indian Edition, 1968), pp. 53-54.*
15. *"The only possible alternative is simply to keep to the immediate experience that consciousness is a singular of which the plural is unknown; that there is only one thing and that, what seems to be a plurality, is merely a series of different aspects of this one thing, produced by deception (the Indian MAYA); the same illusion is produced in a gallery of mirrors, and in the same way Gaurisankar and Mt. Everest turned out to be same peak, seen from different valleys." 'The I that is God' in Quantum Questions ed. Ken Wilber (New Science Library, Boston & London, 1984), p. 93.*
16. वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न, दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे।। श्वेताश्वतर 1.13
17. स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तराणिम्। ध्याननिर्मथानाभ्यासाद् देवं पश्येत् निगूढवत्।। श्वेताश्वतर 1.14
18. अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते, अजमनिद्रमस्वप्नम् अद्वैतं बुध्यते तदा।। गौडपादकारिका 1.16
19. कविराज, म. गोपीनाथ, तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1963), पृ0 119–120.
20. न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्तिर्न, विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञको वा। अविद्यात्मकत्वात् त्रयाणां तुरीयस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्।। आचार्य शंकर, दशश्लोकी, 8.
21. *Khan, Hazarat Inayat, The Way of Illumination (Motilal Banarasidas Pvt., New Delhi), pp. 141-143. 1914* में लंदन में इन्होंने 'सार्वभौम सूफी संप्रदाय' की स्थापना की। इन्हें निजाम हैदराबाद ने 'तानसेन' की पदवी प्रदान की थी।
22. राकेश, विष्णुदत्त, आचार्य श्रीचन्द्र साधना, सिद्धान्त और साहित्य, (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986), पृ0 145, पद्य में आये कुछ शब्दों के अर्थ : मिरयत–दर्पण, मुहाजात, अमाने–समाने, नूर हजूरे– दिव्य ज्योति, मलाहत–सौंदर्य, मजलिस–प्रभु की हजूरी, खुदी–अहम, दुई–द्वैत, मुस्तहलक–स्वयं तबाह होने वाला, जमाल–सौन्दर्य।
23. *The Collected Work of Sri Raman Maharshi (SriRamPrakashan), Tiruannamalai 2007, p. 39.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अथ स्वतः परतः प्रामाण्यं परीक्ष्यते

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रामाण्याप्रामाण्य की विवक्षा

मनुष्य प्रेक्षावन्त प्राणी है। प्रेक्षावन्त मनुष्य से अवर स्तर के प्राणी भी होते हैं। परन्तु मनुष्य की विशेषता यह है कि वह अपनी प्रेक्षाओं के प्रति आत्मचेतन होता है। इस कारण वह प्रेक्षाओं की पूर्ति के लिए हेय और उपादेय बुद्धि पूर्वक अवांछित वस्तु की वर्जना और वांछित वस्तु को प्राप्त करने में प्रवृत्त होता है। इन दोनों प्रकार की प्रेक्षाओं का जो इष्ट है, उसमें प्रवृत्ति और उसकी सिद्धि के लिए कम से कम उसका ज्ञान होना आवश्यक है। ज्ञान को इसीलिए व्यवहार मात्र के प्रति साधारण निमित्त कारण माना जाता है। परन्तु यह ज्ञान व्यवहार का निमित्त होते हुए भी प्रेक्षित वस्तु की सिद्धि हठात् नहीं कराता। (न हि पुरूषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम्, धर्मोत्तर, न्याय बिन्दु 1/1) उसकी भूमिका मात्र ज्ञापक की होती है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो ज्ञान प्रेक्षित वस्तु की सिद्धि का कारक हेतु नहीं बल्कि ज्ञापक हेतु होता है। यदि वह कारक हेतु होता तो किसी वस्तु को जानने का मतलब उसे प्राप्त करना भी होता। तब ज्ञान और उसके विषय की प्रापकता को लेकर व्यभिचार और अन्यथात्व की कोई सम्भावना ही नहीं बनती। इस तरह ज्ञान को लेकर प्रामाण्याप्रामाण्य की विवक्षा भी नहीं होती। परन्तु ज्ञान को लेकर प्रामाण्याप्रामाण्य की विवक्षा आवश्यक रूप से हुआ करती है, क्योंकि एक ओर वह प्रेक्षित वस्तु के प्रति ज्ञापक हेतु होता है और दूसरी ओर उसकी ज्ञापकता निःसंदिग्ध हो, यह आवश्यक नहीं। इस कारण व्यवहार में प्रेक्षित वस्तु कभी प्राप्त हो जाती है और कभी नहीं भी होती। वस्तुतः किसी भी ज्ञान में उसके स्वरूप की ज्ञापकता जितनी सुनिश्चित होती है उतना ही सुनिश्चित उसके विषय की ज्ञापकता नहीं होती। प्रामाण्य और अप्रामाण्य का प्रश्न किसी ज्ञान के स्वरूप की ज्ञापकता को लेकर नहीं बल्कि ज्ञान के विषय की सुनिश्चित ज्ञापकता को लेकर ही उठता है। इसीलिए ज्ञान का वह स्वरूप जिसमें उसके विषय की ज्ञापकता सुनिश्चित होती है, उसी में प्रामाण्य और जिसमें सुनिश्चित नहीं होती, उसमें अप्रामाण्य माना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाता है। ज्ञान के इसी प्रामाण्याप्रामाण्य के सापेक्ष इष्ट की सिद्धि और अनिष्ट का परिहार सम्भव होता है। धर्मकीर्ति जब यह कहते हैं कि सकल पुरूषार्थों की सिद्धि सम्यक्ज्ञान पूर्वक होती है (सम्यग्ज्ञान पूर्विका सर्वपुरूषार्थ सिद्धिरिति तद् व्युत्पाद्यते)[1] तो इसका तात्पर्य इष्ट की सिद्धि और अनिष्ट के परिहार का प्रामाण्याप्रामाण्य सापेक्ष होना ही है। इस प्रकार ज्ञान मात्र का प्रयोजन और औचित्य यदि इष्टानिष्ट के प्रति ज्ञापक हेतु होना है तो ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की विवक्षा का सम्पूर्ण प्रामाणमीमांसीय अनुवीक्षा का मूलगामी विवक्षा होना स्वाभाविक ही है। प्रमाणशास्त्र वास्तव में इसी मूलगामी विवक्षा को व्युत्पादित करने वाला शास्त्र है। इसलिए ज्ञान के प्रामाण्य का व्युत्पादन मानो प्रमाणमीमांसा के लिए पुरूषार्थ–साधना जैसी है।

I

प्रामाण्यवाद का इतिहास

भारतीय दर्शन में प्रमाणशास्त्र की इस मूलगामी विवक्षा के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो प्रामाण्यवाद के बीजभूत विचार सूत्रकाल में ही प्राप्त होते हैं। यद्यपि सूत्र ग्रन्थों में इस विचार का सन्दर्भ शब्द प्रमाण तक सीमित रहा है। प्रमाणान्तर प्रसंगों में प्रामाण्य विषयक कोई स्पष्ट कथन सूत्रकाल में प्राप्त नहीं होते हैं। अतः प्रामाण्य–विचार की समस्यात्मक शुरूआत शब्द प्रमाण को लेकर हुई प्रतीत होती है। 'आप्तश्रुतिराप्तृचनन्तु' नामक सांख्यसूत्र में श्रुतियों के स्वतःप्रामाण्य को ही स्वीकार किया गया है। पुनः जैमिनि और गौतम दोनों ही वेदप्रामाण्यवादी हैं, परन्तु एक के लिए वेद अपौरुषेय शब्द राशि है तो दूसरे के लिए पौरुषेय शब्द राशि। इसीलिए जैमिनि औत्पत्तिक सूत्र[2] में 'अव्यतिरेकश्चार्थेनुपलब्धे तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षत्वात्' कहते हुए वेद रूप शब्द प्रमाण के स्वतस्त्व का प्रतिपादन करते हैं और अतीन्द्रिय, स्वर्ग, अपूर्व और देवतादि विषयों के प्रति आप्तोक्त शब्द प्रमाण का खण्डन करते हैं। इसके विपरीत गौतम 'आप्तोपदशः शब्दः' सूत्र[3] के द्वारा शब्द के प्रामाण्य का अवधारण परतः रूप में करते हैं और परीक्षा सूत्र[4] में मंत्र, आयुर्वेद इत्यादि की प्रमाणता का समर्थन आप्तप्रामाण्य की परिसीमा में करते हैं।

परवर्ती काल में शब्द–प्रमाण–सन्दर्भी प्रामाण्य–विचार सकल प्रमाणव्यापिनी होकर बहुत प्रसिद्ध हुआ। परम्परा में 'नमः प्रामाण्यवादाय मत्कवित्वापहारिणे' जैसी उक्तियाँ इसकी प्रसिद्धि के ही परिचायक हैं। मण्डन मिश्र के घर पले तोते भी राम–राम के बदले स्वतः प्रमाणम् और परतः प्रमाणम् का रट लगाते हों तो समझा जा सकता है कि उस काल में प्रामाण्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्बन्धी विचार–विमर्श की कितनी प्रसिद्धि रही होगी (स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरोगिरन्ति)। परन्तु परम्परा में प्रामाण्यवाद को एक प्रमाणमीमांसीय प्रकरण के रूप में स्थापित करने का श्रेय किसे दिया जाय, स्पष्ट तौर पर यह कहना कठिन है। इस विषय पर किसी स्वतंत्र प्रकरण ग्रन्थ का नहीं होना कठिनाई को और भी बढ़ा देता है। देखा जाय तो प्रमाणों के प्रामाण्य को लेकर भारतीय दर्शन में सबसे बड़ी चुनौती नागार्जुन के द्वारा प्रस्तुत की गई है। वैदल्यसूत्र और विग्रहव्यावर्तनी में नागार्जुन यह उपस्थापित करते हैं कि प्रमाणों में रहने वाला प्रामाण्य न स्वतः, न परतः, न उभयतः और न ही नोभयतः सिद्ध हो सकता है। अतः जब प्रमाणों का प्रामाण्य ही सिद्ध नहीं तो सारा का सारा प्रमाण–चिन्तन काकदन्त परीक्षा के समान व्यर्थ है। नागार्जुन के इसी सर्वसंहारी पूर्वपक्ष के विरोध में प्रामाण्यसिद्धि का प्रश्न उन दर्शनों के लिए जीवन–मरण का प्रश्न बना जो किसी न किसी रूप में प्रमाणों की रचनात्मक भूमिका को स्वीकार करते हैं (प्रमाणं प्राण निलयः प्राणभृत प्राण जीविनः)। इस क्रम में वेदों के सर्वातिशायी प्रामाण्य की रक्षा हेतु कृत संकल्प कुमारिल भट्ट वह पहले व्यक्ति प्रतीत होते हैं जिन्होंने इस समस्या पर व्यवस्थित रूप से विचार किया और सकल प्रमाणव्यापिनी स्वतःप्रामाण्यवाद का प्रतिपादन किया। यद्यपि कुमारिल भट्ट के पूर्ववर्ती न्याय भाष्यकार वात्स्यायन[5] में भी एतद्विषयक जागरूकता दिखाई पड़ती है लेकिन प्रकृत समस्या पर उन्होंने कुमारिल भट्ट की तरह व्यवस्थित विचार नहीं किया है। अतः नागार्जुन के पश्चात् दूसरे स्तर पर कुमारिल भट्ट द्वारा उपस्थापित स्वतःप्रामाण्यवाद का एकान्तिक पूर्वपक्ष प्रामाण्यवाद के परवर्ती विकास को सर्वाधिक प्रभावित किया है। भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद के जितने भी विकल्पों[6] की उद्भावना की गई है, उन सभी का विकास कुमारिल भट्ट के सर्वसमावेशी स्वतःप्रामाण्यवाद के विरोध में तत्तद् दर्शनों द्वारा स्वपक्ष–स्थापन के प्रयास में ही हुआ है।

यद्यपि भारतीय दर्शन के नास्तिक–आस्तिक और निगमागमिक सभी दर्शनों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे प्रामाण्याप्रामाण्य विषयक अपने अभिमत को स्पष्ट करें तथापि इस प्रश्न को लेकर मुख्य विवाद मीमांसा एवं न्याय दर्शन के बीच रहा है। अन्य दर्शन सम्प्रदाय इन्हीं में से किसी एक के अभिमत को थोड़े–बहुत परिवर्तन के साथ स्वकीय पक्ष के रूप में आत्मसात् करते हैं। इस समस्या पर पारम्परिक तौर पर उत्पत्ति और ज्ञप्ति की दृष्टि से विचार किया जाता है। उत्पत्ति की दृष्टि से विचार करते हुए यह प्रश्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उठाया जाता है कि ज्ञान की उत्पत्ति जिन कारण सामग्रियों से होती है, उन्हीं से उस ज्ञान में प्रामाण्याप्रामाण्य की भी उत्पत्ति होती है अथवा प्रामाण्याप्रामाण्य की उत्पत्ति किसी भिन्न कारण सामग्रियों से होती है। इसी तरह ज्ञप्ति की दृष्टि से यह प्रश्न उठाया जाता है कि उत्पन्न ज्ञान की ज्ञप्ति जिन ज्ञानग्राहक सामग्रियों से होती है, उन्हीं से उस ज्ञान के प्रामाण्याप्रामाण्य की भी ज्ञप्ति होती है, अथवा प्रामाण्याप्रामाण्य की ज्ञप्ति ज्ञानग्राहक सामग्रियों से भिन्न सामग्रियों के द्वारा होती है। प्रामाण्याप्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व का निर्धारण इन्हीं दोनों प्रश्नों के सन्दर्भ में किया जाता है। मीमांसा दर्शन के अनुसार प्रामाण्य की उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति दोनों स्वतः है जबकि न्याय दर्शन के अनुसार दोनों परतः है। प्रथम स्वतःप्रामाण्यवाद तथा दूसरा परतःप्रामाण्यवाद कहलाता है। जहाँ तक अप्रामाण्य का सम्बन्ध है, दोनों में कोई मतभेद नहीं है। दोनों के अनुसार अप्रामाण्य की उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति परतः होती है। परन्तु प्रामाण्य की उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति के प्रश्नों से अधिक मूलभूत एवं महत्त्वपूर्ण प्रश्न प्रामाण्य के स्वरूप को लेकर है ? इस प्रश्न के उत्तर पर ही प्रामाण्य की उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति विषयक प्रश्नों का उत्तर निर्भर करता है। यद्यपि प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व पर उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति की दृष्टि से न्यूनाधिक विचार भारतीय दर्शन के सभी प्रमुख सम्प्रदायों ने किया है तथापि यहाँ कुछ मूलभूत प्रश्नों को उठाकर उन्हीं सन्दर्भों में आगे विचार करना प्रासंगिक होगा। ये प्रश्न हैं– 1. ज्ञान का स्वरूप क्या है ? 2. क्या ज्ञान का प्रमा एवं अप्रमा में भेद समुचित है ? 3. क्या प्रामाण्य की उत्पत्ति का प्रश्न युक्तिसंगत है ? 4. क्या प्रामाण्य की ज्ञप्ति स्वतः हो सकती है ? और 5. क्या स्वतः एवं परतः सिद्धान्तों के बीच का विरोध मूलभूत है ? या दोनों में कुछ सत्यांश है जिसको मिलाकर एक अधिक युक्तियुक्त एवं समर्थ पक्ष को प्रस्तुत किया जा सकता है ? इन प्रश्नों के साथ–साथ ज्ञान, निश्चय एवं विश्वास के परस्पर भेद एवं सम्बन्ध पर भी विचार किया जाना जरूरी है। इससे भारतीय ज्ञानमीमांसा में प्रामाण्याप्रामाण्य के विवाद को एक नये आलोक में समझा जा सकता है।

II

पूर्वमीमांसा सम्मत स्वतःप्रामाण्यवाद

सर्वप्रथम यहाँ पूर्वमीमांसा सम्मत स्वतःप्रामाण्यवाद पर विचार करना उचित होगा। मीमांसा के अनुसार प्रामाण्य अथवा प्रमात्व का लक्षण 'अनधिगत अबाधितार्थ विषयत्व' है। 'अनधिगतत्व' पद स्मृति का व्यावर्तक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तथा 'अबाधितत्व' पद भ्रम का व्यावर्तक है। इस प्रकार प्रामाण्य की परिभाषा अगृहीत का ग्रहण तथा बाधक ज्ञानरहित होना है। मीमांसकों के अनुसार उपर्युक्त प्रकार से परिभाषित प्रामाण्य 'स्वतः' होता है। उसकी उत्पत्ति ज्ञान के हेतुओं से ही होती है, उसे किसी 'अतिशय' की अपेक्षा नहीं। उसका ज्ञान भी उसके आश्रयरूप ज्ञान के ग्राहक ज्ञान से ही होता है, अन्य से नहीं। त्रिपुटी प्रत्यक्षवादी प्राभाकर मत में ज्ञान 'स्वप्रकाश' होने के कारण तथा भ्रम की सत्ता अस्वीकृत होने के कारण प्रत्येक ज्ञान स्वरूपतः स्वतः प्रमाण है।[7] कुमारिल के मत में विषय की 'ज्ञातता' के आधार पर जिस अनुमिति से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी से उसके प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। मुरारी मिश्र के मत में जिस 'अनुव्यवसाय' से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी से उसके प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। इस प्रकार तीनों मीमांसक मतों में प्रामाण्य की ज्ञप्ति के प्रकार के विषय में मतभेद होते हुए भी तीनों यह मानते हैं कि यह 'स्वतः' है, क्योंकि प्रामाण्य का ग्रहण उसके आश्रयरूप ज्ञान के ग्राहक ज्ञान से ही होता है। अब जहाँ तक प्रामाण्य की उत्पत्ति का प्रश्न का है, तो तीनों में कोई मतभेद नहीं है।

अवधेय है कि मीमांसकों के मत में प्रामाण्य की ज्ञप्ति की दृष्टि से कुछ कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं। यदि अनधिगतत्व अथवा अगृहीत का ग्रहण प्रामाण्य की कसौटी है तो प्रामाण्य स्वतोग्राह्य कैसे होगा? प्रामाण्य का ग्रहण 'अनधिगतत्व' के निश्चय पर निर्भर है और यह निश्चय प्रामाण्य के आश्रयरूप ज्ञान के ग्राहक ज्ञान से भिन्न ज्ञान की अपेक्षा करता है। उसी प्रकार यदि 'अबाधितत्व' अथवा 'बाधक ज्ञान रहितत्व' प्रामाण्य की कसौटी है तो इसका निश्चय भी स्वतः नहीं हो सकता। अबाधितत्व का अर्थ केवल ज्ञान के उत्पत्तिकाल में ही अबाधित होना नहीं है बल्कि उत्तरकाल में भी अबाधित बने रहना है, अन्यथा भ्रम भी प्रमा की कोटि में आ जायेगा। यह मानना असंगत होगा कि ज्ञान के ग्रहण के साथ ही भविष्य में भी उसके अबाधित रहने का निश्चय होता है। अतः मीमांसकों द्वारा स्वीकृत प्रामाण्य के लक्षण तथा उनके द्वारा प्रतिपादित स्वतःप्रामाण्य के सिद्धान्त में विरोध स्पष्ट ही दृष्टिगत होता है। इस विरोध के निवारण के लिए मीमांसकों द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का लक्षण 'मिथ्यात्व–निश्चय– रहितत्व' भी किया जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक लक्षण है, क्योंकि इसके अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य उसके मिथ्यात्व के अज्ञान में निहित है। प्रामाण्य के इस लक्षण में तथा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वतःप्रामाण्य सिद्धान्त में विरोध नहीं है, क्योंकि 'मिथ्यात्व –निश्चय –रहितत्व' के निश्चय के लिए किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। अतः प्रत्येक ज्ञान ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतःप्रमाण है। इस दृष्टि से भ्रम को भी, जब तक उसके मिथ्यात्व का निश्चय नहीं होता, स्वतःप्रमाण ही माना जाना चाहिए।

वास्तव में देखा जाय तो प्रामाण्य के उपर्युक्त लक्षण में एक दोष है। प्रामाण्य का यह लक्षण मिथ्यात्व की संकल्पना के आधार पर किया गया है। तब प्रश्न उठता है कि तार्किक दृष्टि से प्रामाण्य की अपेक्षा मिथ्यात्व की अवधारणा क्या अधिक मूलभूत है? यदि है तो मिथ्यात्व की अवधारणा प्रामाण्य की अवधारणा से स्वतंत्र होनी चाहिए। परन्तु ऐसा मानना संभव नहीं है। यदि 'मिथ्यात्व' का अर्थ प्रमा नहीं होना है तो स्पष्टतः प्रामाण्य का उपर्युक्त लक्षण चक्रक दोष से ग्रसित हो जाता है।

मीमांसकों ने स्वतःप्रामाण्यवाद की रक्षा के लिए एक तरीका और अपनाया है। प्रामाण्य का एक लक्षण 'ज्ञानत्व' भी माना जाता है (अनुभूति प्रमाणं सा स्मृतेरन्या)। अतः ज्ञान होना ही प्रमा होना है और प्रमा होना ही ज्ञान होना है। अप्रमा या भ्रम ज्ञान नहीं, बल्कि ज्ञानाभास है। ऐसा मानने पर ज्ञानग्राहक ज्ञान से उसके प्रमात्व स्वरूप का ग्रहण होगा ही। इस प्रकार प्रामाण्य 'स्वतः' होगा। इस पक्ष की विशेषता यह है कि यह ज्ञान के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है। ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ यह कहना असंगत होगा कि मैं जानता हूँ कि भूतल पर घट है, पर यह मिथ्या है'। यदि किसी विषय में मुझे भ्रम हो तो यह नहीं कहा जा सकता कि उस विषय का मुझे ज्ञान है। हमारी भाषा में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग हमें भ्रम को ज्ञान मानने की अनुमति नहीं देता। ज्ञान–विषयक हमारी अवधारणा के अनुसार जब तक किसी विषय में हमारा 'ज्ञान' सत्य एवं निश्चयात्मक नं हो तो वह ज्ञान नहीं कहा जा सकता। कोई व्यक्ति यदि अपने 'ज्ञान' को निश्चित सत्य मानता है और बाद में यह प्रकट होता है कि वह भ्रान्त था, तो यह नहीं कहा जाता कि पहले उसे ज्ञान था पर बाद में वह भ्रम हो गया। अपितु यह कहा जाता है कि उसने मान लिया था कि उसको ज्ञान था, पर वास्तव में वह भ्रान्त था। अतः ज्ञान स्वतःप्रमाण है क्योंकि प्रमात्व उसका स्वरूप ही है। यदि हम जानते हैं कि हमें ज्ञान है तो हम यह भी जानते हैं कि वह प्रमा है। यदि बाद में हम जानते हैं कि हमें वास्तव में भ्रम हुआ था तो इसका अर्थ होगा कि हमें ज्ञान हुआ ही नहीं था, अपितु ज्ञानाभास हुआ था। वस्तुतः ज्ञान कभी मिथ्या सिद्ध नहीं होता, अपितु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जो ज्ञान नहीं है– ज्ञानाभास है– उसका स्वरूप प्रकट हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्ञान का उपर्युक्त लक्षण स्वीकार करने पर उसका प्रमा और अप्रमा में भेद संभव नहीं है। अप्रमा को ज्ञान की कोटि से बाहर ही रखना होगा। परन्तु स्वतःप्रामाण्यवादी इस प्रकार का भेद स्वीकार करते हैं और प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का विचार करते हैं। यदि अप्रमा ज्ञान का प्रकार ही नहीं है तो प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत उसका विचार ही युक्तिसंगत नहीं है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि स्वतः प्रामाण्यवादियों के लिए ही दो विकल्प हैं। प्रथमतः वे यह मान सकते हैं कि सभी ज्ञान प्रारम्भ में प्रमा होते हैं, परन्तु उनमें से कुछ बाह्य दोषों के कारण बाद में मिथ्या हो जाते हैं। द्वितीयतः वे यह मान सकते हैं कि सभी ज्ञान प्रारम्भ में प्रमा प्रतीत होते हैं, यद्यपि उनमें से कुछ प्रारम्भ से ही मिथ्या होते हैं और इस कारण वे ज्ञान होते ही नहीं। उनका मिथ्यात्व बाद में ज्ञात होता है। इसमें प्रथम विकल्प उन लोगों को स्वीकार्य होगा जिसके अनुसार प्रमाण का भावात्मक लक्षण सम्भव नहीं। प्रमा वह है जिसका निश्चय न हो। स्पष्ट है कि इस मत में प्रमात्व ज्ञान का वास्तविक धर्म नहीं होगा और किसी ज्ञान को प्रमा कहने का अर्थ होगा उसके मिथ्यात्व का ज्ञान न होना। परिणामतः इस मत में उत्पत्ति की दृष्टि से ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य का कोई अर्थ नहीं होगा। जब प्रामाण्य ज्ञान का वास्तविक धर्म है ही नहीं, वह 'मिथ्यात्व निश्चय रहितत्व' है, तो ज्ञान के हेतुओं द्वारा उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरा विकल्प उन लोगों को स्वीकार्य होगा जिनके अनुसार ज्ञान में प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है, और भ्रम ज्ञान नहीं अपितु ज्ञानाभास है। यद्यपि प्रारम्भ में दोनों समान रूप से प्रमा प्रतीत होते हैं। इस मत में भ्रम को ज्ञान की कोटि के बाहर ही रखकर स्वतः प्रामाण्य की रक्षा का प्रयास किया जा सकता है।

यहाँ एक बात स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि मीमांसकों के मत में स्वतःप्रामाण्य की कोई कसौटी नहीं है, जबकि भ्रम की है। ज्ञान स्पष्टतः प्रमा है और अपने इसी स्वरूप में अनुभूत होता है। इस मत के अनुसार कोई भी कसौटी प्रामाण्य को सिद्ध नहीं कर सकती; परन्तु जिसको हमने ज्ञान मान लिया था और जो वास्तव में ज्ञान नहीं था उसके मिथ्यात्व को सिद्ध कर सकती है। ज्ञान का प्रामाण्य नहीं सिद्ध किया जा सकता, अपितु भ्रम का मिथ्यात्व सिद्ध किया जा सकता है। यह मत कहाँ तक स्वीकार्य हो सकता है, यह परम्परा में अभी भी विचाराधीन बना हुआ है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

III
नैयायिकों का परतःप्रामाण्यवाद

स्वतःप्रामाण्यवाद का परम्परागत विरोधी मत परतःप्रामाण्यवाद है। इसका दृढ़ता से प्रतिपादन नैयायिकों ने किया है। न्याय दर्शन के अनुसार प्रमा और अप्रमा ज्ञान के दो प्रकार हैं। दोनों में समानता यह है कि दोनों विषय के सामान्य धर्मों को प्रकाशित करते हैं। 'इदं रजतं' इस आकार की प्रमा तथा उसी आकार की अप्रमा दोनों विषयनिष्ठ चाक–चिक्यादि सामान्य धर्मों को प्रकाशित करते हैं। परन्तु प्रमा की विशेषता यह है कि वह विषय के विशेष धर्मों को भी प्रकाशित करती है। इसी कारण उसका अप्रमा से वैलक्षण्य है और इसी विलक्षणता में उसका प्रामाण्य है।

नैयायिकों ने मीमांसकों द्वारा दिये गये प्रामाण्य के लक्षण की मुख्यतः दो आलोचनाएँ की हैं। प्रथमतः यदि 'अनधिगतत्व' को प्रामाण्य का लक्षण माना जाय तो धारावाहिक ज्ञान में प्रथम क्षण को छोड़कर उत्तर क्षणों में होने वाले उसी विषय के ज्ञान को अप्रमा मानना होगा। इस तरह प्रमा की कोटि से केवल स्मृति की ही नहीं, प्रमा की भी व्यावृत्ति हो जायगी। उसी प्रकार 'अबाधितत्व' को भी प्रामाण्य का लक्षण नहीं माना जा सकता क्योंकि इसका अर्थ होगा कि जो बाधित है वह अप्रमा है। परन्तु यदि एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान द्वारा बाध होता है तो उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि प्रथम अप्रमा है और दूसरा प्रमा है। अतः यदि 'बाधितत्व' अप्रामाण्य का लक्षण नहीं हो सकता तो 'अबाधितत्व' भी प्रामाण्य का लक्षण नहीं हो सकता।

नैयायिकों ने प्रामाण्य का लक्षण 'तद्वति तत्प्रकारकत्व' रूप से किया है। इस लक्षण के दो अंग हैं– एक ज्ञानगत तथा दूसरा विषयगत। 'तद्वति' का सम्बन्ध विषय से तथा 'तत्प्रकारकत्व' का सम्बन्ध ज्ञान से है। 'तत्' जो ज्ञान में प्रकार है यदि विषय का भी धर्म हो तो वह ज्ञान प्रमा है। जैसे 'इदं रजतं' इस ज्ञान में 'इदंत्व' तथा 'रजतत्व' दो प्रकार हैं। 'तत् का अर्थ यदि 'रजतत्व' लें तो रजतत्व प्रकारक ज्ञान प्रमा होगा, बशर्ते 'रजतत्व' विषय का धर्म हो। यदि ऐसा नहीं है तो वह अप्रमा ही कहा जाएगा; जैसा कि शुक्ति में रजत का भ्रम होने पर होता है। स्पष्ट है कि उपर्युक्त लक्षण द्वारा परिभाषित प्रामाण्य न तो पूर्णतः ज्ञान–धर्मक है, न पूर्णतः विषय–धर्मक। उसका स्वरूप सम्बन्धात्मक है। जहाँ तक ज्ञानगत धर्मों का प्रश्न है, प्रमा और अप्रमा में कोई अन्तर नहीं है। दोनों में अन्तर केवल इस बात का है कि प्रमा में जो प्रकारभूत धर्म है वे सभी 'इदं' के भी धर्म हैं, जैसा कि अप्रमा में नहीं है। फिर भी इस आधार पर प्रमा एवं अप्रमा में नितान्त भेद नहीं किया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता, क्योंकि अप्रमा में 'तत्' भले ही 'इदं' का धर्म न हो पर 'इदंत्व' जो ज्ञान में प्रकार है, 'इदं' का धर्म है ही। अतः न्यायमत में कोई भी ज्ञान पूर्णतः अप्रमा नहीं हो सकता है। अपने वस्तुवाद की रक्षा के लिए नैयायिकों ने प्रभाकर के समान अप्रमा को पूर्णतः अस्वीकार न करते हुए भी उसको प्रमा के अति निकट लाने का प्रयास अवश्य किया है।[8] इसीलिए नैयायिक भ्रम की व्याख्या अन्यथाख्याति के रूप में करते हैं जहाँ वास्तविक रजत अलौकिक प्रत्यक्ष का विषय होता ही है।

परतःप्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति दोनों दृष्टियों से परतः होता है। ज्ञान का प्रामाण्य केवल ज्ञान के हेतुओं से नहीं बल्कि हेतुओं के साथ 'गुण' के सहकार्य से उत्पन्न होता है।[9] उसी प्रकार ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान न तो स्वयं उसी ज्ञान से होता है और न अनुव्यवसाय से। ज्ञान के प्रामाण्य का प्रश्न और जिज्ञासा ज्ञान के ज्ञात होने पर ही उठती है। अज्ञात ज्ञान के प्रामाण्य की जिज्ञासा निरर्थक है। अतः प्रामाण्य का ज्ञान या तो दूसरे ज्ञान द्वारा उसकी पुष्टि होने पर या 'सफल प्रवृत्ति–जनकत्व' अथवा 'तज्जातीयत्व' के आधार पर होता है। इस सिद्धान्त के पक्ष में जो प्रमुख युक्तियाँ प्रस्तुत किये जाते हैं उनमें दो प्रमुख हैं। इसमें प्रथम का सम्बन्ध प्रामाण्य की 'परतः' उत्पत्ति से है तथा दूसरे का उसकी 'परतः' ज्ञप्ति से। यदि प्रामाण्य की उत्पत्ति ज्ञान के हेतुओं से ही होती है तो अप्रमा में भी प्रामाण्य मानना होगा, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भी ज्ञान के हेतुओं से ही होती है। उसी प्रकार यदि ज्ञान के साथ ही उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान होता है तो उस विषय में संशय के लिए कोई स्थान नहीं होगा।[10] अतः उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति दोनों दृष्टियों से प्रामाण्य को परतः मानना आवश्यक है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि न्याय के अनुसार ज्ञान जब उत्पन्न होता है तो वह न प्रमा होता है न अप्रमा। ऐसा मानना असंगत होगा। ज्ञान उत्पत्ति से ही प्रमा या अप्रमा होता है। परन्तु प्रमात्व या अप्रमात्व जो भी ज्ञान का धर्म हो, ज्ञान के सामान्य हेतुओं से भिन्न हेतुओं पर निर्भर करता है। प्रमात्व की उत्पत्ति में 'गुण' अतिशय हेतु तथा अप्रमात्व में 'दोष' अतिशय हेतु होते हैं। न्याय सिद्धान्त मुक्तावलीकार ने गुण की व्याख्या करते हुए कहा है कि विशेषणविशिष्ट विशेष्य के साथ इन्द्रियसन्निष्कर्ष प्रत्यक्ष का गुण है। साध्य विशिष्ट पक्ष में लिंगपरामर्श अनुमिति की उत्पत्ति में गुण है। शक्य संज्ञी की सादृश्य प्रतीति उपमिति की उत्पत्ति में गुण है। योग्यता अथवा तात्पर्य का यथार्थज्ञान शाब्द बोध का औत्पत्तिक गुण होता है। अतः ज्ञानजनक सामग्री से भिन्न सामग्री ही वह हेतुगत गुण है जिससे प्रमा की उत्पत्ति होती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रामाण्य की ज्ञप्ति के विषय में नैयायिकों का पक्ष यह है कि वह स्वतः हो नहीं सकता क्योंकि ऐसा होने पर किसी भी ज्ञान में संशय के लिए कोई स्थान ही नहीं रहेगा। परन्तु क्या इसका अर्थ यह माना जाय कि जिस ज्ञान में संशय नहीं होता उसके प्रामाण्य की ज्ञप्ति स्वतः होती है ? यह प्रश्न नैयायिकों के लिए बहुत ही संकटप्रद है। न्यायमत में अनुमिति, फलज्ञान और अभ्यासदशापन्न ज्ञान ऐसे होते हैं जिनके विषय में संदेह नहीं होता। तो क्या इनका प्रामाण्य स्वतः होता है ? यदि इनका प्रामाण्य स्वतः माना जाता है तो सभी ज्ञानों के प्रामाण्य को स्वतः न मानने के लिए कोई युक्तियुक्त आधार नहीं रह जाएगा। यदि इनका प्रामाण्य भी परतः माना जाता है तो अनवस्था दुर्निवार होगी। इस संकट से बचने के लिए ही नैयायिक उपर्युक्त ज्ञानों को ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतःप्रमाण मानते हैं। अनुव्यवसाय को भी स्वतः प्रमाण मानने के पीछे यही कारण है। परन्तु यह मान्यता एक ढीले अर्थ में है। अवधेय है कि यदि उपर्युक्त ज्ञानों के विषय में संदेह उत्पन्न होता है तो उनके प्रामाण्य की ज्ञप्ति भी परतः ही होगी। अतः उनका स्वतः प्रामाण्य तभी तक है जब तक उनके विषय में संदेह का अभाव है। परन्तु क्या नैयायिकों के लिए अनुमिति, फलज्ञान और अनुव्यवसाय इत्यादि को स्वतः प्रमाण मानना अपरिहार्य है ? यह ठीक है कि ऐसे ज्ञानों में निश्चितता होती है, अर्थात् संदेह नहीं होता। परन्तु इस प्रकार की निश्चितता अन्य ज्ञानों में भी संभव है। यहाँ तक कि भ्रमात्मक ज्ञानों को भी इसका अपवाद नहीं माना जा सकता। तब सभी निश्चित ज्ञानों का स्वतःप्रमाण क्यों नहीं माना जा सकता ? वास्तव में यहाँ प्रश्न निश्चितता का नहीं बल्कि 'तद्वति तत्प्रकारकत्व' रूप प्रामाण्य का है। अनुमिति इत्यादि में निश्चितता होने पर भी उनके प्रामाण्य को परतः माना जा सकता है। निश्चितता एवं प्रामाण्य में अन्तर नहीं किये जाने के कारण ऐसा मान लिया जाता है। नैयायिकों को जबकि निश्चितता और प्रामाण्य में अन्तर करना चाहिए। यही दृष्टि उनके प्रामाण्य–सिद्धान्त के लिए अधिकाधिक संगत हो सकती है।

IV

उत्पत्तिवाद की समीक्षा

स्वतः तथा परतः प्रामाण्यवादियों के बीच प्रामाण्य की ज्ञप्ति के सम्बन्ध में विवाद उतना उलझा हुआ नहीं है परन्तु उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विवाद को समझने में कठिनाई होती है। प्रमा की उत्पत्ति के क्या हेतु हैं, यह प्रश्न समझ में आता है, परन्तु प्रामाण्य की उत्पत्ति के क्या हेतु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं, यह प्रश्न समझ में नहीं आता। प्रश्न यह है कि जिस प्रकार हम प्रमा की उत्पत्ति के हेतुओं की बात कर सकते हैं उसी प्रकार क्या प्रामाण्य के हेतुओं की बात भी कर सकते हैं ? प्रामाण्य सभी प्रमा–व्यक्तियों का सामान्य धर्म है जो उनको अप्रमा से व्यावृत्त करता है। प्रमा–व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है, उनके हेतु होते हैं, परन्तु प्रामाण्यरूप सामान्य धर्म की उत्पत्ति की बात करना क्या अर्थहीन नहीं है ? प्रामाण्य को यदि गुण माना जा सकता तो उसकी उत्पत्ति की बात की जा सकती थी। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि आश्रय ज्ञान, जिसका वह धर्म है, स्वयं गुण माना गया है। अतः प्रामाण्य को सामान्य मानना होगा, और सामान्य न्याय एवं मीमांसा दोनों के मतों से नित्य होता है। परिणामतः प्रामाण्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्वतः एवं परतः प्रामाण्यवादियों के बीच का विवाद निरर्थक हो जाता है, क्योंकि प्रामाण्य की उत्पत्ति का प्रश्न ही स्वयं में प्रश्नांकित है।

उपर्युक्त कठिनाई से बचने के लिए परतःप्रामाण्यवादी दो प्रकार के उत्तर दे सकते हैं। एक उत्तर तो यह कि उत्पत्ति की दृष्टि से प्रमा परतः है न कि प्रामाण्य। प्रमा के हेतु ज्ञान के साधारण हेतुओं से अधिक हैं। इस अधिकता के कारण उनमें जो अतिशय है उसी को 'गुण' कहा जाता है। अतः प्रमा की उत्पत्ति के हेतुओं का विचार अर्थहीन नहीं है। परन्तु इस उत्तर का परिणाम यह होगा कि परतः प्रामाण्यवाद में ज्ञप्ति–विषयक प्रश्न का सम्बन्ध तो प्रामात्व से होगा और उत्पत्ति विषयक प्रश्न का सम्बन्ध प्रमा से होगा। इस तरह एक ही सिद्धान्त के दो पक्षों के बीच खाई बन जायेगी। दूसरा उत्तर यह हो सकता है कि प्रामाण्य अपने आप में कोई धर्म नहीं है, अतः प्रमा के साथ उसकी उत्पत्ति मानी जा सकती है। न्याय द्वारा परिभाषित 'तद्वति तत्प्रकारत्व' रूप प्रामाण्य सामान्य पदार्थ नहीं, अपितु एक लक्षण या आकार है जो प्रामाण्य की कसौटी का काम करता है। वास्तव में प्रत्येक प्रमा का प्रामाण्य विलक्षण होता है। उदाहरणार्थ घट रूप का प्रमाण्य 'घटत्ववति 'घटक–प्रकारकत्व' है जो एक पदार्थ है और घट रूप में होने वाले प्रत्येक ज्ञान के साथ उत्पन्न होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि घट नामक प्रमा के साथ उत्पन्न होने वाला प्रामाण्य उसका गुण है या सामान्य धर्म ? न्याय मत में वह गुण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमा स्वयं गुण है, और गुण में गुण का समवाय नहीं हो सकता। परिणामतः उसको सामान्य धर्म ही मानना होगा। परन्तु ऐसा मानने पर उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि सामान्य धर्म को भले

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नैयायिक जाति न स्वीकार करें और यह मानें कि वह उपाधि है तो भी उपाधि रूप सामान्य धर्म भी उत्पत्तिमान् नहीं हो सकता। इस संकट से बचने का एक ही उपाय है कि प्रामाण्य की उत्पत्ति की बात ही छोड़ दी जाय। वास्तव में 'घटत्ववति घटत्वप्रकारकत्व' रूप प्रामाण्य भी घट–विशेष के ज्ञान का धर्म नहीं माना जा सकता। घट–ज्ञान उत्पन्न एवं विनष्ट होता है, परन्तु 'घटत्ववति घटत्वप्रकारकत्व' रूप प्रामाण्य चूँकि उनका सामान्य धर्म है और इस कारण उसकी उत्पत्ति की बात नहीं की जा सकती। प्रमा एक कालिक घटना है, अतः उसकी उत्पत्ति की चर्चा की जा सकती है। परन्तु यही बात प्रामाण्य के विषय में संभव नहीं है। इस प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्वतः एवं परतः दोनों ही सिद्धान्तों के बीच का विवाद निरर्थक प्रतीत होता है। स्वतः प्रामाण्यवादी यह तो मानते हैं कि प्रामाण्य की उत्पत्ति ज्ञान से पृथक् नहीं होती, परन्तु वास्तव में उनको यह मानना चाहिए कि प्रामाण्य की उत्पत्ति होती ही नहीं और इसी कारण वह स्वतः है। अतः एक सुसंगत स्वतःप्रामाण्यवाद के लिए प्रामाण्य की उत्पत्ति की समस्या को ही अस्वीकार कर देना उचित प्रतीत होता है। ऐसे ही 'गुण' तथा 'दोषाभाव' को लेकर स्वतः तथा परतः प्रामाण्यवादियों के बीच का विवाद भी व्यर्थ है। यह विवाद तथ्य को दृष्टिगत रखकर नहीं बल्कि अपने–अपने सुविधापेक्षी सिद्धान्तों के प्रति आग्रह के कारण उत्पन्न होता है।

पुनः प्रामाण्य को स्वतः एवं परतः मानने वाले दोनों यह मानते हैं कि ज्ञान दो प्रकार का होता है–एक प्रमा और दूसरा अप्रमा। ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो दोनों में से कोई न हो। इनमें अन्तर इतना ही है कि जहाँ स्वतः सिद्धान्त के अनुसार दोष–रहित कारण से प्रमा तथा दुष्ट–कारण से अप्रमा की उत्पत्ति होती है वहाँ परतः सिद्धान्त के अनुसार गुण–सहित कारण से प्रमा तथा दुष्ट–कारण से अप्रमा की उत्पत्ति होती है। जहाँ तक अप्रमा का सम्बन्ध है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। प्रमा के सम्बन्ध में भी मूलभूत भेद नहीं प्रतीत होता। यदि दोष–रहितत्व को ज्ञान की कारण–सामग्री का 'गुण' मान लिया जाय तो दोनों मतों में प्रामाण्य की उत्पत्ति की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं रह जाता। वास्तव में देखा जाय तो दोनों मतों का अन्तर और भी गहराई में है। जहाँ परतःप्रामाण्यवादियों के लिए ज्ञान के दो प्रकार हैं–एक प्रमा तथा दूसरा अप्रमा वहीं स्वतःप्रामाण्यवादियों के लिए वास्तव में वैसा नहीं है, भले ही विवाद के लिए वे ज्ञान के दो प्रकार मानते हों। अप्रमा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वास्तव में ज्ञान है ही नहीं, वह ज्ञानाभास या विपरीत आभास है जो ज्ञान के हेतुओं में दोषों की उपस्थिति से उत्पन्न होता है। दोनों मतों के बीच प्रामाण्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विवाद वास्तव में इसी मूलभूत अन्तर की ओर इंगित करता है।

V
ज्ञप्तिवाद की समीक्षा

ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से प्रामाण्य की ज्ञप्ति का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में न्यायमत के विरुद्ध मीमांसाकों के दो प्रधान तर्क हैं। प्रथम यह है कि यदि ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान दूसरे ज्ञान द्वारा माना जाय तो अनवस्था होगी।[11] प्रवृत्ति–साफल्य भी फल–ज्ञान होने के कारण बिना उसके प्रामाण्य की सिद्धि हुए अन्य ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान नहीं करा सकता।[12] दूसरा तर्क यह है कि ज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही यदि उसके प्रामाण्य का ज्ञान न हो तो निष्कंप प्रवृत्ति संभव नहीं होगी। अतः प्रवृत्ति–साफल्य किसी ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान नहीं करा सकता, क्योंकि प्रवृत्ति की सम्भावना ही उस प्रकार के ज्ञान पर निर्भर करती है।

देखा जाय तो उपर्युक्त तर्कों के पीछे दो पूर्व मान्यताएँ प्रतीत होती हैं। प्रथम यह कि कोई ज्ञान अपने विषय का निश्चय नहीं करा सकता, यदि उसके प्रामाण्य का ज्ञान न हो। इसी आधार पर परतः प्रामाण्य के सिद्धान्त में अनवस्था दोष दिखलाया गया है। दूसरा यह कि ज्ञान निष्कंप प्रवृत्ति तभी उत्पन्न कर सकता है जब उसके प्रामाण्य का ज्ञान हो। न्याय इन दोनों मान्यताओं को अस्वीकार कर देता है। प्रथम के विषय में उसकी आपत्ति है कि वह तथ्य पर आधारित नहीं है। ज्ञान का अपने प्रामाण्य का ज्ञान न होने पर भी वह अपने विषय का निश्चय करा सकता है। इसको अस्वीकार करने का अर्थ होगा कि कोई भी ज्ञान तभी ज्ञान माना जा सकेगा जब उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान हो। यह विवादास्पद विषय को ही मान लेना होगा। स्वतःप्रामाण्यवाद स्वयं ही आत्माश्रय दोष से ग्रस्त है, क्योंकि वह अपने पक्ष को गृहीत मानकर परतःप्रामाण्यवाद में अनवस्था दोष दर्शाता है। मीमांसाकों की दूसरी मान्यता के सम्बन्ध में न्याय का मानना है कि निष्कंप प्रवृत्ति के लिए ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान आवश्यक नहीं है। यदि उसके अप्रामाण्य का ज्ञान न हो तो वास्तव में इतना ही निष्कंप प्रवृत्ति के लिए पर्याप्त है। जब ज्ञान के विषय में संदेह होता है तभी उसके प्रामाण्य का निश्चय आवश्यक होता है, अन्यथा नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऐसे ही स्वतःप्रामाण्यवाद के विरुद्ध न्याय दर्शन की दो मुख्य आपत्तियाँ हैं। एक तो यह कि यदि ज्ञान का प्रामाण्य प्रारम्भ से ही, अर्थात् ज्ञान के ज्ञात होने के साथ ही उसका प्रामाण्य भी ज्ञात हो तो बाद में वह अप्रमा सिद्ध नहीं हो सकता। न्याय का यह तर्क बड़ा ठोस प्रतीत होता है। यदि किसी ज्ञान के प्रामाण्य का हमें ज्ञान है तो वह अप्रमा भले कैसे हो सकता है। यह कहना असंगत होगा कि मुझे 'यह रजत है' इस ज्ञान की सत्यता का ज्ञान था, परन्तु वह गलत था। हम कह सकते हैं कि मुझे 'यह रजत है' इस ज्ञान की सत्यता का विश्वास या निश्चय था, परन्तु वह गलत था। विश्वास या निश्चय गलत हो सकता है, परन्तु ज्ञान नहीं। अब यदि न्याय दर्शन इस पक्ष को स्वीकार करता है तो वह प्रच्छन्न रूप से यह मानता है कि ज्ञान स्वरूपतः प्रमा है, भले ही उसके प्रामाण्य का ज्ञान अन्य ज्ञान की अपेक्षा करता हो। परिणामतः प्रमा तथा अप्रमा में ज्ञान का भेद नहीं किया जा सकता। वास्तव में न्यायमत में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग शिथिल अर्थ में किया गया है। उसके लिए आधुनिक पदावली का 'विश्वास' शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अपने कठोर अर्थ में 'ज्ञान' शब्द का अर्थ प्रमा ही हो सकता है। विश्वास जब प्रमाणित होता है तभी ज्ञान या प्रमा माना जाता है। परन्तु ज्ञान के कठोर अर्थ को स्वीकार करने पर भी न्याय के परतः प्रामाण्यवाद पर आँच नहीं आती, क्योंकि वह बिना किसी असंगति के यह मान सकता है कि ज्ञान स्वरूपतः प्रमा होने पर भी उसके प्रामाण्य की ज्ञप्ति परतः ही होती है।

स्वतःप्रामाण्यवाद के विरुद्ध न्याय दर्शन की दूसरी आपत्ति यह है कि ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान मनस् द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि मनस् बाह्य तथ्यों को स्वतंत्र रूप से जानने में असमर्थ है। मनस् द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, परन्तु उससे यह नहीं जाना जा सकता कि ज्ञान प्रमा है या नहीं, क्योंकि वह यह जानने में असमर्थ है कि ज्ञान में जो प्रकारभूत धर्म है वह बाह्य वस्तु का भी धर्म है या नहीं। 'यह रजत है' इस ज्ञान का प्रामाण्य मैं तभी जान सकता हूँ जब मैं यह जान सकूँ कि मेरे सम्मुख उपस्थित वस्तु वास्तव में रजत है। परन्तु यह ज्ञान मनस् द्वारा सम्भव नहीं, क्योंकि वह स्वतंत्र रूप से बाह्य स्थिति को नहीं जान सकता। अतः प्रामाण्य के ग्रहण के लिए ज्ञान का ज्ञान कराने वाले ज्ञान से भिन्न अन्य ज्ञान की आवश्यकता होती ही है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वास्तव में उपर्युक्त आपत्ति का आधार न्याय दर्शन सम्मत प्रामाण्य की अवधारणा ही है जिसके अनुसार प्रामाण्य न तो शुद्ध ज्ञान–धर्म है और न शुद्ध वस्तु–धर्म। वह दोनों का मिश्रण है जो 'तद्वति तत्प्रकारकत्व' लक्षण से स्पष्ट होता है। इसी कारण प्रामाण्य का ज्ञान केवल उसके आश्रय भूतज्ञान के ज्ञान से नहीं हो सकता। उसके निश्चय के लिए अन्य ज्ञान का सहारा लेना आवश्यक है। जहाँ तक प्रवृत्ति का प्रश्न है तो उसके लिए प्रामाण्य का ज्ञान आवश्यक नहीं। यह तभी आवश्यक होता है जब ज्ञान के विषय में प्रारम्भ से ही सन्देह हो।

यहाँ प्रसंगवश यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त आपत्तियाँ स्वतःप्रामाण्यवाद के विरूद्ध बहुत प्रभावी नहीं हो सकतीं, क्योंकि उसमें न्याय सम्मत प्रामाण्य का लक्षण ही स्वीकार नहीं किया गया है। मीमांसक 'ज्ञानत्व' को ही 'प्रमात्व' का लक्षण मानकर और भ्रम को ज्ञान की कोटि से बाहर कर स्वतःप्रामाण्यवाद की रक्षा का प्रयास करते हैं। यदि मनस् द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, जैसा कि मीमांसक मानते हैं, और ज्ञानत्व ही प्रामाण्य है, तो मनस् द्वारा प्रामाण्य का ग्रहण होगा ही। वास्तव में मनस् द्वारा ज्ञान का ज्ञानरूप में ग्रहण ही उसके प्रामाण्य का ग्रहण है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या मनस द्वारा या अन्तर्निरीक्षण द्वारा ज्ञान का ग्रहण हो सकता है ? मीमांसकों की इस अभ्युक्ति को जानते हुए भी कि ज्ञान स्वरूपतः प्रमा है, उसका ग्रहण मनस् द्वारा होता है, यह मानना कठिन प्रतीत होता है। चाहे हम ज्ञान को आत्मा का गुण मानें या अंतःकरण की वृत्ति मानें, परन्तु 'यह ज्ञान है' यह अन्तर्निरीक्षण द्वारा नहीं जाना जा सकता। अंतःकरण की अन्य अवस्थाएँ हैं– जैसे सुख,दुःख, पश्चाताप, इच्छा, द्वेष इत्यादि अन्तर्निरीक्षण द्वारा जानी जा सकती हैं, ज्ञान नहीं। विचारणीय है कि यदि मैं किसी विषय में ज्ञान होने का दावा करता हूँ और कोई मुझे चुनौती देता है, तो मैं अन्तर्निरीक्षण द्वारा नहीं जान सकता कि मुझे ज्ञान है, अर्थात् ज्ञान का मेरा दावा सही है। उसके लिए मुझे वस्तुस्थिति जाननी होगी। यदि यह अभ्युक्ति ठीक है तो ज्ञान स्वरूपतः प्रमा होते हुए भी ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतःप्रमाण नहीं हो सकता। जहाँ तक इस सम्बन्ध में अनवस्था की आपत्ति का प्रश्न है, न्याय दर्शन द्वारा उसका प्रभावी उत्तर दिया गया है। विषय के निश्चय के लिए अथवा निष्कंप प्रवृत्ति के लिए ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान आवश्यक नहीं, अप्रामाण्य का ज्ञान न होना ही उसके लिये पर्याप्त है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

VI
उपसंहार

अब हम स्वतःप्रामाण्यवाद और परतः प्रामाण्यवाद की उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर कह सकते हैं कि ज्ञान स्वरूपतः प्रमा है, उसका प्रमा एवं अप्रमा में भेद नहीं किया जा सकता। 'ज्ञान' शब्द का हमारा व्यवहार हमें ज्ञान के इस स्वरूप को मानने के लिए बाध्य करता है। इस अर्थ में ज्ञान स्वतःप्रमाण है। पुनः स्वतः एवं परतः प्रामाण्यवादियों के बीच प्रामाण्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विवाद निरर्थक है, क्योंकि प्रमा की उत्पत्ति की बात तो बुद्धिगम्य है, लेकिन प्रामाण्य की उत्पत्ति की बात नहीं। इसके अलावा हम प्रामाण्य का कोई भी स्वरूप मानें, चाहे हम उसे 'अनधिगत अबाधित अर्थविषयत्व' या 'ज्ञानत्व' या 'तद्वति' तत्प्रकारकत्व, मानें उसकी ज्ञप्ति परतः ही हो सकती है। अतः ज्ञान का प्रामाण्य स्वरूपतः स्वतः होते हुए भी ज्ञप्ति की दृष्टि से सदैव परतः ही होता है। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय ज्ञानमीमांसा में 'ज्ञान' शब्द का शिथिल अर्थ में प्रयोग किया गया है। उसके लिए आधुनिक पदावली में उपयुक्त शब्द होगा 'विश्वास'। क्योंकि, विश्वास मिथ्या भी हो सकता है. परन्तु ज्ञान नहीं। इसके लिए भारतीय प्रमाणमीमांसा में ज्ञान, निश्चय और विश्वास के स्वरूप और उनके परस्पर सम्बन्ध का विश्लेषण करते हुए प्रामाण्य सम्बन्धी विवादों का पुनरावलोकन करना उपयोगी हो सकता है।

आइए पहले हम 'ज्ञान' एवं 'निश्चय' की अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास करें । हम कह सकते हैं कि सत्य होना ज्ञान का लक्षण है। परन्तु केवल इतने से ही ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। निश्चयात्मकता भी ज्ञान के लिए अनिवार्य है। यह कहना असंगत होगा कि 'बाहर वर्षा हो रही है इसका मुझे ज्ञान है, पर निश्चय नहीं'। अतः ज्ञान के लक्षण में दो बातें समाविष्ट हैं : 1. जो हम जानते हैं वह सत्य हो, और 2. हमें उस विषय में निश्चय हो। परन्तु ज्ञान एवं निश्चय का घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी उनमें महत्त्वपूर्ण भेद भी है। मुझे किसी विषय का निश्चय होने पर भी मैं भ्रान्त हो सकता हूँ, परन्तु ज्ञान होने पर भ्रांति की सम्भावना नहीं होनी चाहिए। सम्मुख उपस्थित वस्तु के विषय में 'यह रजत है' ऐसा निश्चय भ्रम भी हो सकता है, परन्तु यदि वह ज्ञान है तो ऐसा सम्भव नहीं। अतः किसी विषय में मेरे निश्चित होने से यह नहीं सिद्ध होता कि वह वास्तविक तथ्य है, परन्तु ज्ञान होने पर होता है। उसी प्रकार मेरे इस कथन से कि 'मुझे निश्चय है कि मेरी गाय गौशाला में है' वह आश्वासन नहीं मिलता जो इस कथन से मिलता कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'मैं जानता हूँ कि मेरी गाय गौशाला में हैं। अतः सभी ज्ञान अपने स्वरूप को लेकर निश्चयात्मक होने पर भी सभी निश्चय अर्थ–संवाद की दृष्टि से ज्ञानात्मक नहीं होते।

परन्तु ऐसा भी संभव है कि उपर्युक्त दोनों लक्षण–सत्यता एवं निश्चयात्मकता–होने पर भी कोई ज्ञानात्मक दावा ज्ञान न हो। किसी विद्यार्थी को यह निश्चय हो कि वह परीक्षा में अवश्य सफल होगा, और वह वास्तव में सफल हो भी जाय, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसे अपनी सफलता का ज्ञान था। अतः ज्ञान होने के लिए सत्यता एवं निश्चयात्मकता पर्याप्त नहीं है। उसके लिए समुचित और पर्याप्त प्रमाण भी होना चाहिए। यदि उक्त विद्यार्थी का परीक्षा में सफल होने का निश्चय समुचित एवं पर्याप्त प्रमाण पर आधारित है तो ही वह ज्ञान की स्थिति है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार ज्ञान के तीन लक्षण हैं–1. सत्य होना 2. निश्चयात्मक होना और 3. समुचित एवं पर्याप्त प्रमाण पर आधारित होना।

अब हम विश्वास के सम्बन्ध में विचार करें। यदि हमें 'प' के विषय में विश्वास है तो दो बातों का होना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम यह कि 'प' के विषय में हमें निश्चय होना चाहिए, अर्थात् 'प' के लिए कुछ प्रमाण होना चाहिए। प्रमाण यदि समुचित है तो विश्वास यौक्तिक होगा और यदि नहीं है तो वह अयौक्तिक होगा। यदि प्रमाण का नितान्त अभाव हो तो 'प' विश्वास नहीं हो सकता। विश्वास के लिए प्रमाण आवश्यक है, भले ही जिसको प्रमाण माना जा रहा है वह वास्तव में प्रमाण न हो। जब यौक्तिक विश्वास के लिए निश्चित तथा पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होता है तो वह ज्ञान माना जाता है। अतः पर्याप्त प्रमाण के आधार पर 'प' के बारे में निश्चित होना और सही होना विश्वास की नहीं बल्कि ज्ञान की स्थिति है। इस प्रकार 'ज्ञान' विश्वास से नितान्त भिन्न स्थिति नहीं अपितु उसकी पार्यन्तिक अवस्था है। जब विश्वास के लिए पर्याप्त प्रमाण होता है तब वह ज्ञान कहलाता है। एक ही विषय के बारे में पहले विश्वास और फिर ज्ञान हो सकता है। साधारणतः यही क्रम होता है कि हम विश्वास से प्रारम्भ करते हैं और बाद में, हमेशा नहीं तो प्रायः, ज्ञान पर पहुँचते हैं। जब विश्वास की पुष्टि होती है तब वह ज्ञान हो जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि कोई स्थिति विश्वास की है या ज्ञान की, इसका निर्णय कैसे हो सकता है ? इसके लिए दोहरी परीक्षा आवश्यक होगी। प्रथम का सम्बन्ध उस विषय से है जिसका हमें विश्वास या ज्ञान होता है। यदि 'प', जिसका हमें विश्वास या ज्ञान होता है, मिथ्या सिद्ध हो जाता है तो वह विश्वास की स्थिति है, और यदि वह सत्य सिद्ध होता है

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो वह विश्वास है या ज्ञान इसका निर्णय इस परीक्षा से संभव नहीं है। इसके लिए दूसरी परीक्षा आवश्यक होगी और उसका सम्बन्ध उस व्यक्ति से होगा जिसको विश्वास या ज्ञान हो रहा है। यदि बिना पर्याप्त प्रमाण के ही उसको 'प' का निश्चय है तो वह विश्वास की स्थिति है, और यदि वह निश्चय पर्याप्त प्रमाण पर आधारित है तो वह ज्ञान की स्थिति है। इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि विश्वास तथा ज्ञान शुद्ध मानसिक अवस्थाएँ नहीं हैं। अंशतः वे मानसिक हैं, परन्तु उनका परस्पर भेद मानसिक नहीं है।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि ज्ञान स्वरूपतः प्रमा होते हुए भी 'मैं प्रमा हूँ' इस प्रमाण–पत्र के साथ उत्पन्न नहीं होता। दूसरे शब्दों में, ज्ञान अपनी उत्पत्ति के साथ ही अपने प्रामाण्य का ज्ञान लिये हुए उत्पन्न नहीं होता, अपितु अपने प्रामाण्य के निश्चय के साथ उत्पन्न होता है। परन्तु यह निश्चय ज्ञान और विश्वास दोनों स्थितियों में हो सकता है। इसी कारण जिस प्रकार ज्ञान निष्कंप प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है उसी प्रकार भ्रम भी उत्पन्न करता है। मीमांसक प्रामाण्य के इस निश्चय को ही प्रामाण्य का ज्ञान मान लेते हैं और इस तरह उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति की दृष्टि से प्रामाण्य के स्वतस्त्व का प्रतिपादन करने में उन्हें कठिनाई नहीं प्रतीत होती। अतः कहा जा सकता है कि वे निश्चय एवं ज्ञान में भेद नहीं करते। परन्तु यदि यह भेद नहीं किया जाता तो यह मानना होगा कि ज्ञान मिथ्या भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान स्वरूपतः प्रमा है, इस सिद्धान्त का व्याघात होगा। इस संकट से बचने का एक ही उपाय है। प्रामाण्य की ज्ञप्ति को परतः माना जाय। परन्तु मीमांसक इसे स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर श्रुति का प्रामाण्य निरपेक्ष रूप से स्थापित नहीं हो सकेगा। प्रामाण्य की ज्ञप्ति स्वतः होती है, इस आग्रह के पीछे श्रुतिवाक्यों के प्रामाण्य को सुरक्षित रखने का ही उनका अन्तर्निहित संकल्प है। दूसरी ओर न्याय प्रामाण्य की ज्ञप्ति को तो परतः मानता है, परन्तु वह ज्ञान और विश्वास में भेद नहीं करता। यदि नैयायिक इस भेद को स्वीकार कर लें तो उनके सिद्धान्त में किसी प्रकार की असंगति भी उत्पन्न नहीं होगी और प्रामाण्यवाद सम्बन्धी विवाद में उनके परतः प्रामाण्यवाद को अधिकाधिक युक्तिसंगत सिद्धान्त कहा जा सकेगा।

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, (म.प्र.) 470003

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. न्याय बिन्दु, प्रत्यक्ष परिच्छेद–1
2. मीमांसा सूत्र, वेदप्रामाण्याधिकरण, 1/1/5
3. न्यायसूत्र, 1/1/7
4. वही, 2/1/68
5. न्याय सूत्र, 1/1/1 पर भाष्यकार की पूर्वपीठिका, प्रमाणतोऽर्थ प्रतिपत्तौ प्रवृत्ति सामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्।
6. माध्वाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह (12/29) नामक अपने ग्रन्थ में प्रामाण्यवाद सम्बन्धी विवादभूत विकल्पों को निम्न रूप में संग्रहित किया है–
प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्या समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः।।
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्।।
जयन्त भट्ट और शान्तरक्षित ने भी प्रामाण्याप्रामाण्य के स्वतः और परतः विकल्पों की उद्भावना अपने–अपने ढंग से किया है। इन सभी विकल्पों को भारतीय दर्शनों पर उदाहरित करने पर विदित होता है कि सांख्य प्रमाण्य और अप्रमाण्य दोनों को स्वतः और नैयायिक दोनों को परतः मानते हैं। मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः तथा बौद्ध अप्रामाण्य को स्वतः और प्रामाण्य को परतः मानते हैं। इस सम्बन्ध में एक अवान्तर पक्ष 'अनियमवाद' का भी है।
7. तंत्र रहस्य, पृ. 7, सर्वा प्रतीतिरात्मांशे स्वयं प्रत्यक्षा प्रकाशते। अप्रकाशात्मकयोरपि मेयमात्रोर्यत्सम्बन्धात् प्रकाशस्ता दृश्यास्तस्याः प्रकाशे क्रिमपरमपेक्षणीयम्। न तस्यां विषयप्रकाशसमये प्रकाशान्तरमपि, न च सा तदानीं नावभासते, तदनवभासे च सर्वानवभास प्रसंगात्। न चाप्रकाशदीपे विषयाः प्रकाशन्ते।
8. गागा भट्ट ने एक अवानतर प्रसंग में इसका संकेत करते हुए कहा है कि सिद्धान्तस्तु अनन्तगुणानं हेतुत्वमपेक्ष्य ज्ञानसामान्यसामग्रीजन्यत्वस्यैवोचितत्वात्। दोषवदिन्द्रियजन्यस्यापि धर्म्यंशे प्रमात्वाच्च। भाट्टचिंतामणि, पृ. 12।
9. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, पृ. 131, दोषोऽप्रमाया जनकः प्रमायास्तु गुणोभवेत्। पित्तदूरत्वादिरूपो दोषो नानाविधो मतः।।
10. तर्कसंग्रह दीपिका, प्रामाण्यवाद, स्वतः प्रामाण्यग्रहे जलज्ञानं प्रमा न वेत्यनभ्यासदशायां प्रमात्वसंशयो न स्यात्।
11. गागाभट्ट, भाट्टचिंतामणि, पृ. 12, न च तत्रापि ज्ञानान्तरेण प्रामाण्य निश्चयः, अनवस्थापत्तेः।
12. द्रष्टव्य, भारतीय दर्शन की मूलगामी समस्याएँ, नारायण शास्त्री द्रविड़, पृ. 159, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर 2009।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कांट के दर्शन का तात्पर्य - IV*

कृष्णचंद्र भट्टाचार्य
अनुवादक : मुकुन्द लाठ

अनुभव का प्रामाण्य–विचार

(ख) प्रकारक–क्रिया के संबंध में

क्योंकि विषय का आकार ज्ञानात्मक रूप में प्रतिपन्न होता है, इसलिये विषय का प्रकार भी ज्ञानक्रियात्मक रूप में ही प्रतिपन्न होता है। प्रकार का यह ज्ञानाभिन्नत्व अलग विचार की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि प्रकार आकार–निष्ठ हो कर ही विषय–निष्ठ भावेन उपलब्ध होता है। पर, आकार–ज्ञान के संबंध में जो समस्या नहीं उठती, प्रकार–ज्ञान के संबंध में उठती है, इसलिये प्रकार–ज्ञान पर विशेष विचार की आवश्यकता है। विषय का आकार हो या प्रकार, दोनों ही असंख्य हैं। पर आकार–मात्र देशाकार और कालाकार में अंतर्भुक्त रहता है। आकार के ये दोनों मूल रूप ज़ाने–माने हैं, इनके निर्णय के लिये अलग से विचार का यहां स्थान नहीं है। पर मूल प्रकार–भेद यों जाने–माने नहीं हैं, इसलिये इनकी उपपत्ति, या प्रमाण, यहां अपेक्षित है। आकार–प्रत्यय–ग्राह्य विषय का ही ज्ञान होता है; इसके बारे में कोई संशय नहीं खड़ा होता। पर किस प्रकार का प्रत्यय होने पर ही वह ज्ञेय–विषय का प्रकार होता है, यह बात विचार की मांग करती है। क्योंकि प्रकार–प्रत्यय ऐसा भी हो सकता है कि वह विषय के प्रकार के रूप में कल्पनीय ही न हो, या विषय के प्रकार के रूप में कल्पनीय होने पर भी ज्ञेय न हो। प्रकार के जो मूल रूप हैं वे ज्ञेय–विषय के साथ ही प्रयुज्य होते हैं, यह बात भी उपपत्ति, या प्रमाण की अपेक्षा रखती है। यों, मूल प्रकारों के विभाजन और प्रामाण्य के लिये विचार विशेष का यहां प्रसंग उठता है।

ख (1) मूल प्रकारों के विभाग की उपपत्ति

भाषा में हम अपना अध्यवसाय–रूप विषय ज्ञान ऐसे वाक्य में प्रकाशित करते हैं : 'यह विषय इस प्रकार का है'। इस कारण से अध्यवसाय को, वाक्यानुपाती ज्ञान, या संक्षेप में, वाक्य ज्ञान कहा जा सकता

*गतांक से आगे क्रमशः ...

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। 'यह विषय इस प्रकार का है', इस वाक्य में 'यह विषय' उद्देश्य है और 'इस प्रकार का है' विधेय है, और इन दोनों के संबंध का नाम है, विधेयता। 'यह विषय' का अर्थ है, 'यह प्रत्यक्ष या प्रत्यक्षयोग्य आकारित विषय'। उद्देश्य का ज्ञान वाक्यानुपाती ज्ञान का अंग तो होता है, पर क्योंकि वह मूलतः प्रत्यक्ष ज्ञान होता है इसलिये वह विधेयता–ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता। लेकिन प्रकार–रूप विधेय का ज्ञान विधेयता ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। प्रकार–ज्ञान को वाक्य–ज्ञान के अंग के रूप में ही समझा जा सकता है। पर यह आवश्यक नहीं कि 'यह विषय इस प्रकार का है', वाक्य के इस साधारण रूप में विषय को घट, पट आदि नाम से विशेषित या निर्दिष्ट किया जाये। किसी भी निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट विषय–रूप उद्देश्य के प्रति विधेय–कृत पदार्थ को 'प्रकार' कहा जा सकता है। यों, प्रकार विधेयता–संबंध–घटित पदार्थ है; 'विधेयता–संबंध–निरपेक्ष प्रकार' का कोई अर्थ नहीं होता। विधेयता–संबंध के नाना भेद स्वीकार किये जा सकते हैं, इन भेदों के आधार पर ही प्रकार के मूल भेद निर्णीत होते हैं।

विषय–बुद्धि–गोचर पदार्थ–मात्र विधेयता–संबंध की अपेक्षा रखता है। जिस बुद्धि को कांट 'अति–विषय–प्रत्यभिज्ञा' का नाम देते हैं, वह बुद्धि विषयता–मात्र की प्रतीति है। विधेयता–संबंध ही विषयता, प्रकारता और ज्ञातता है। हम पहले ही कह आये हैं कि संबंध व्यक्तिहीन जातिमात्र होता है। संबंध ऐसा पदार्थ है जो निराकार अप्रत्यक्ष होता है। उसका जो देशकाल में प्रत्यक्ष होता है, वह संबंध का आभास–मात्र है। प्रत्यक्ष देशकाल–संबंध को व्यक्तिनिष्ठ कहा जा सकता है; अप्रत्यक्ष संबंध व्यक्तिनिष्ठ नहीं होता। 'इस व्यक्ति में यह संबंध है', ऐसे ज्ञान में व्यक्ति संबंध के अंग के रूप में ही प्रतीत होता है, संबंध के आश्रय के रूप में नहीं। संबंध संबंध के भेद या विभाग में ही स्थित रहता है, विभागहीन संबंध नहीं होता। पर विधेयता चरम या ऊर्ध्वतम संबंध है, उसे किसी संबंध का भेद या विभाग नहीं कहा जा सकता। ऊर्ध्वतम के विपरीत निम्नतम संबंध नाम का कोई पदार्थ नहीं है। हमें बोध यह होता है कि सम्बद्ध व्यक्ति संबंध से भिन्न है। जिस संबंध में संबंध–पदार्थ भी निम्नतर संबंध के रूप में प्रतिभात होता है वह संबंध वास्तव में उस पदार्थ का संबंध नहीं होता; जो शेष संबंध पदार्थसंबंध के रूप में प्रतिभात नहीं होता, अर्थात् प्रत्यक्ष–व्यक्ति, संबंध उसके साथ होता है। संबद्ध–व्यक्ति–भेद की अपेक्षा से भी संबंध का भेद होता है, पर इस अपेक्षा के बिना भी संबंध का भेद बनता है। इस दूसरे, निरपेक्ष भेद को शुद्धभेद कहा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जा सकता है, और फिर इसकी अपेक्षा से पहले भेद, सापेक्षभेद, को अशुद्ध भेद कहना उचित होगा। प्रकार–भेद संबंध–भेद की ही छाया होता है। विधेयता–संबंध के शुद्ध और अशुद्ध भेद ही विषय के शुद्ध और अशुद्ध प्रकार भेद हैं। प्रकार को अगर संबंध की छाया कहें तो इससे संबंध और प्रकार के बीच गौण (भाक्त) भेद स्वीकृत हो जाता है। यह सही है कि जिस छाया की यहां बात हो रही है वह प्रत्यक्ष–गोचर नहीं होती पर फिर भी प्रत्यक्ष विषय में अशुद्ध संबंध की छाया मानो प्रत्यक्ष–गोचर ही प्रतीत होती है। पर शुद्ध संबंध की छाया में ऐसा प्रत्यक्षाभास नहीं होता, वहां बुद्धिनिश्चय मात्र होता है। अशुद्ध भेद शुद्ध भेद की अपेक्षा करता है। शुद्ध भेद में भी मूल भेद और मूलापेक्ष भेद, यह अंतर माना जा सकता है। मूलापेक्ष भेद को एकाधिक मूल भेदों में विश्लेषित किया जा सकता है। मूल संबंध भेदों में विधेयता–संबंध स्वतः अभिव्यक्त रहता है।

'बुद्धिगत संबंध या संबंधन–रूप बुद्धिक्रिया हो रही है', यह निर्णय संबंध की विषयगत छाया से, अर्थात्, प्रकार से करना होता है। विषय के मूल प्रकार–विभाग अथवा विधेयता–संबंध के मूल विभाग से अतिविषय–प्रत्यभिज्ञा की प्रकाशकबुद्धि की संबंधन–क्रिया, या प्रकारक–क्रिया, के मूल विभाग का निर्देश पाया जाता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि संबंध का स्वरूप संबंध की प्रत्यभिज्ञेयता–मात्र या अनन्यता–मात्र है। इसलिये संबंध के किसी भी शुद्ध भेद का स्वरूप यह है कि वह अन्य सारे शुद्ध भेदों का अपेक्षी होता है। अतएव संबंध का शुद्ध–भेद–समूह परस्परापेक्ष है, और अपने साकल्य में तत्–संबंध समान हैं : ऐसा अनुभव न हो तो संबंध–विभाग सिद्ध न होगा; और जो शुद्ध संबंध प्राप्त होते हैं उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकेगा कि ये शुद्ध संबंध हैं। संबंध, या जाति, का अशुद्ध, अर्थात् व्यक्तिभेदापेक्ष भेद, ऐसे भेद–समुदाय की अपेक्षा नहीं करता। शुद्ध–भेद–विभाग में स्वतःप्रामाण्यता का अनुभव होता है। विधेयता–संबंध का जो शुद्ध–भेद–विभाग है उसके भेद परस्पर की अपेक्षा करते हैं; और यहां यह अनुभव जागता रहता है कि इन भेदों के सिवा अन्य कोई भेद नहीं हो सकता; यह अनुभव न हो तो इस भेद–विभाग में विधेयता–संबंध की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती।

विधेयता–संबंध के शुद्ध मूल–भेद के अनुगत वाक्य का आकार–भेद स्वीकृत किया जा सकता है। 'वाक्य', इस शब्द से यहां यह समझा जा रहा है : 'विषय–ज्ञान–वाची उद्देश्य–विधेय के अन्वय से अन्वित पद–संग्रह'। लोट् या लिङ्गार्थ वाक्य विषय–ज्ञान–वाची नहीं होता. इसलिये उसकी हम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आपाततः उपेक्षा कर रहे हैं। विषय–ज्ञान–वाची वाक्य का आकार–विभाग ही विधेयता–संबंध का विभाग होता है। विधेयता–संबंध आर्थिक संबंध है, या ज्ञात–वस्तु–संबंध की शाब्दिक छाया कहिये। वाक्य में उद्देश्य अर्थ के विधेय अर्थ के साथ व्याप्य–व्यापक संबंध, धर्मि–धर्मसंबंध, कारण–कार्य संबंध और विषय–विषयि संबंध, ये चार संबंध शब्द द्वारा सूचित होते हैं। इन चारों शाब्दिक छायाओं के ये नाम दिये जा सकते हैं : व्याप्यता, धर्मिता, कारणता और ज्ञातता। 'यह विषय इस जाति द्वारा व्याप्य है', 'इस धर्म से विशेषित है', 'इस कार्य का कारण है' और 'इस प्रकार से ज्ञात विषय है' : वाक्य मात्र का यह चतुर्विध अर्थ होता है। विषय को हम जिस प्रकार से जानते हैं उसे विषय का भाव कहें तो ज्ञान–प्रकार के अनुरूप विषय–प्रकार की स्वीकृति बनती है। विधेयता–संबंधात्मक विषय–मात्र ही ज्ञात विषय होता है। अतएव ज्ञातता को विषय का प्रकार–भेद नहीं कहा जा सकता। पर यह संभव है कि ज्ञातता का हमें स्फुट ज्ञान न होय अगर स्फुट ज्ञान होता है तो अहेतुक नहीं होता, विषयनिष्ठ किसी धर्म को उसका हेतु मानना होगा। विषय का जो धर्म ज्ञातता के स्फुट ज्ञान का हेतु होता है उस धर्म को विषय का प्रकार–भेद कहा जा सकता है। अध्यवसित विषय की संभावना, अस्तित्व या उसके अवश्यंभावी होने का ज्ञान ही ज्ञातता का स्फुट ज्ञान होता है। अतएव यह स्वीकार किया जा सकता है कि ये तीन विषय–धर्म विषय के प्रकार–भेद हैं। स्फुट विषयज्ञान या अध्यवसाय ज्ञातता के स्फुट ज्ञान बिना भी होता है। लेकिन व्याप्यता, धर्मिता और कारणता, स्फुट ज्ञान के बिना इनका स्फुट अध्यवसाय नहीं होता।

अध्यवसाय के अंगीभूत देशकालाकार ज्ञान को अस्फुट अध्यवसाय के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। ऐसे अध्यवसाय में व्याप्यत्व आदि प्रकार–मात्र भी अस्फुट रहते हैं; यहां विषय–ज्ञान होता तो है पर उसे 'ज्ञान से अव्यावृत्त विषय–ज्ञान' ही कहना उचित होगा। अगर यह ज्ञान न हो कि 'विषय ज्ञान से भिन्न है', तो अध्यवसाय स्फुट नहीं होता। ज्ञातता रूपी प्रकार के अस्फुट रहने पर भी स्फुट अध्यवसाय होता है। लेकिन व्याप्यत्व आदि तीन प्रकारक संबंध अस्फुट रहें तो विषय का ज्ञान–व्यावृत्त ज्ञान नहीं होता, और इसलिये अध्यवसाय भी स्फुट नहीं होता। व्याप्यत्वादि, प्रकारक–संबंध–त्रय के द्वारा ही यह ज्ञान होता है कि 'ज्ञान से विषय भिन्न है'। विषय की ज्ञान से व्यावृत्ति का ज्ञान ही विषय का वस्तुताज्ञान है। 'यह विषय विषयांतर का कारण है', ऐसे ज्ञान में ही विषय का वस्तुता ज्ञान होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऐसे वास्तव विषय के ही व्याप्यत्व और धर्मित्व प्रकारक प्रत्यय को कल्पना, मात्र से व्यावृत्त ज्ञान कहा जा सकता है। व्याप्यत्व और धर्मित्व का ज्ञान न हो तो कारणता का ज्ञान नहीं होता। धर्मिविषयान्तर द्वारा व्याप्त धर्मिविषय को ही विषयान्तर का कारण कहा जा सकता है। व्याप्यत्व धर्मित्व–अपेक्ष कारणताज्ञान होने पर ही वस्तुता का ज्ञान होता है, और वास्तव विषय में ही व्याप्यत्व आदि प्रकारक–संबंध–त्रय का ज्ञान होता है। अतएव, स्फुट अध्यवसाय में इन तीनों प्रकारक संबंधों को भी स्फुट कहना होगा।

स्फुट ज्ञातता रूप प्रकारक–संबंध के ये तीन भेद हैं : संभावना, अस्तित्व और अवश्यंभाव; इन तीन भेदों में व्याप्यत्व, धर्मित्व और कारणता, इन तीन प्रकारक सबंधान्तरों का आभास पाया जाता है। विषय का अवश्यंभाव–ज्ञान अनुमानात्मक होता है। जिस ज्ञात विषय को हम 'अस्ति' के रूप में जानते हैं, वह किसी वैसे ही (अस्ति–रूप) विषय से अनुमित हो तो वह अवश्यंभावी के रूप में निर्णीत होता है। यह अनुमान–घटक व्याप्ति–ज्ञान ही संभावना–ज्ञान होता है। अतएव, अवश्यंभाव–ज्ञान में अस्तिता–ज्ञान और संभावना–ज्ञान की अपेक्षा रहती है – ऐसा कहा जा सकता है। अस्तिता–ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान होता है। पर अस्तिता अनुमित हो तो भी अवश्यंभाव से भिन्न होती है। जिस अनुमान के साथ अनुमातव्य पदार्थ का प्रत्यक्ष या अन्य किसी अनुमान द्वारा अस्तित्व निश्चित हो उस निश्चित पदार्थ के अस्तित्व को अवश्यंभाव कहा जा सकता है। पर जिस अस्तित्व के अनुमान के साथ ऐसा अन्य–संवादी प्रमाण उपस्थित न हो वह अवश्यंभाव की कोटि में नहीं आता। जिस अस्तित्व का ज्ञान अवश्यंभाव का ज्ञान नहीं होता वह धर्मित्व का ही ज्ञातता–ज्ञान होता है। कोई पूर्व ज्ञात अस्ति–पदार्थ जब किसी अन्य ज्ञात अस्ति–पदार्थ से अनुमित होता है, तो इन दोनों के बीच जो कारणता–संबंध का ज्ञातता–ज्ञान होता है, वही अवश्यंभाव–ज्ञान है। दो ज्ञात–पदार्थों में एक के अस्तित्व द्वारा अन्य के नियत अस्तित्व की अपेक्षा को कारणता कहा सकता है। 'यह पदार्थ उस पदार्थ का कारण है', इसका अर्थ यह है कि 'यह पदार्थ है तभी वह पदार्थ है'। कारणता–ज्ञान व्याप्ति–ज्ञान की अपेक्षा रखता है। व्याप्ति–ज्ञान का वाक्याकार यह है : अगर एतज्जातीय पदार्थ हो तभी तज्जातीय पदार्थ होगा'। इसका अर्थ यह कि 'एतत्पदार्थ की संभावना के साथ तत्पदार्थ की संभावना नियत–बद्ध है। फलतः कहा यह जा रहा है कि 'व्याप्ति–ज्ञान ही संभावना–ज्ञान है'। इसी तरह स्फुट

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्ञातता–प्रकार के भेद–त्रय के ज्ञान को ज्ञात–विषय का व्याप्यत्व, धर्मित्व और कारणता रूप प्रकार–त्रय का ज्ञातता–ज्ञान कहा जा सकता है। स्फुट ज्ञातता–प्रकार ही ज्ञात विषय का प्रकार होता है।

विषय के अवश्यंभाव प्रकार के स्फुट ज्ञान का अर्थ विषय की ज्ञातता का अवश्यंभाव–ज्ञान होता है। 'अनुमान के द्वारा ज्ञात हो रहा है', यह ज्ञान ही ज्ञातता का अवश्यंभाव–ज्ञान है। अनुमानात्मकत्व–ज्ञान इस अवश्यंभाव–ज्ञान का नामान्तर मात्र है। विषय की संभावना और अस्तिता, इन प्रकार–द्वय का स्फुट ज्ञान भी ज्ञातता है : अनुमानात्मकत्व–ज्ञान है। लेकिन अनुमानात्मकत्व का ज्ञान इस ज्ञान का नामान्तर मात्र नहीं है। क्योंकि ज्ञातता के इन प्रकार–द्वय के ज्ञान में 'यह अनुमान है', ऐसा साक्षात् अनुभव नहीं होता, केवल यह परोक्ष ज्ञान होता है कि 'यह अनुमान के बिना नहीं हो सकता'। 'यह विषय ज्ञात हो सकता है', इस आकार के संभावनाज्ञान का स्वरूप यह व्याप्ति ज्ञान है कि 'एक जातीय विषय के ज्ञात होने पर अन्य जातीय विषय भी ज्ञात होगा'। व्याप्तिज्ञान का रूप ऐसा है कि वह प्रत्यक्ष से उद्भूत तो होता है, पर उसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता; साथ ही, उसका ऐसा कोई साक्षात् अनुभव भी नहीं होता कि 'यह अनुमान है'; उसके बारे में यह अनुभव भी नहीं होता कि 'यह अहेतुक या प्रातिभ ज्ञान नहीं है'। भिन्नजातीय क और ख, इन दो विषयों के सहचारित्वादि के प्रत्यक्ष से क–जातीय कोई नवीन विषय ज्ञात हो तो यह प्रतीति जागती है कि 'इस ज्ञान से ख–जातीय किसी विषय का ज्ञान होगा'; इस प्रतीति का अनुभव हमें ज्ञान के रूप में होता है, पर इसके लिये कोई हेतु नहीं दिया जा सकता; फिर भी 'ऐसा होता है' और यह कहने के लिये किसी हेतु का ग्रहण आवश्यक है। 'व्याप्तिज्ञान अनिर्देश्य–हेतुक अनुमान है', इस रूप से संभावनात्मक–ज्ञान को अनुमानात्मक कहा जा सकता है। अस्तिता–रूप ज्ञातता–प्रकारक ज्ञान भी अनुमानात्मक होता है। यह ठीक है कि विषय प्रत्यक्ष हो तो 'यह कल्पित है', ऐसी प्रतीति नहीं होती, पर यह ज्ञान भी नहीं होता कि, 'यह अस्तिता–रूप ज्ञातता–प्रकार द्वारा प्रकारित है'। ऐसे ज्ञान के लिये निम्न अनुमान–प्रक्रिया की आवश्यकता होती है : 'जो प्रत्यक्ष होता है वह सत् होता है, यह प्रत्यक्ष है, अतएव यह सत् है'। इस प्रक्रिया में अनुभव काम नहीं करता, फिर भी इस प्रक्रिया के बिना अस्तिता–प्रकार का स्फुट ज्ञान नहीं हो सकता। यहां इस संदर्भ में, प्रत्यक्षत्व अस्तिता–अनुमान का हेतु है, पर हेतु के रूप में उसका स्फुट–भाव से ग्रहण नहीं होता, इसलिये अस्तिता–प्रकारक ज्ञान को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यहां अस्फुट अनुमिति कहा जा सकता है। यों, यह कहा जा सकता है कि ज्ञातता–प्रकार मात्र अनुमानात्मक होता है। ज्ञातता–प्रकार के प्रत्येक प्रकार में व्याप्ति, पक्षधर्मता और अनुमिति, इस भेद–त्रय का स्वीकार आवश्यक है। पर इसे ज्ञातता–प्रकार का प्रकार नहीं कहा जा सकता।

ज्ञातता–प्रक.र के गर्भीभूत इस भेद–त्रय के अनुरूप ज्ञात–विषय का भी भेद–त्रय बनता है। पर इसमें जो प्रकार–भेद उभरते हैं वे विषय के होते हैं। हमने संभावना, अस्तितता और अवश्यंभाव को व्याप्यता, धर्मिता और कारणता का ज्ञातता–प्रकार कहा है। संभावना–प्रकार, अस्तितता–प्रकार और अवश्यंभाव, इन में प्रत्येक के अंतर्भूत भेद–त्रय के अनुरूप ज्ञात–विषय के यथाक्रमेण व्याप्यता, धर्मिता और कारणता, इन रूपभेद–त्रय की स्वीकृति आवश्यक है।यों, ज्ञात–विषय के नौ प्रकार, और ज्ञातता के तीन प्रकार उभरते हैं। इन बारह को इनके साकल्य में विधेयता–संबंध के मूलप्रकार कहा जा सकता है।

यह माना जा सकता है कि व्याप्यता, धर्मिता, कारणता और ज्ञातता, इनमें प्रत्येक के जो प्रकार–त्रय हैं, उनमें जो स्फुटतम प्रकार होता है वह अपर प्रकार–द्वय से अनुमित होता है। 'यह व्यक्ति इस जाति द्वारा व्याप्य है', इत्याकारक वाक्य में व्याप्यता के स्फुटतम प्रकार का प्रकाश होता है। 'यह व्यक्ति एतद्धर्म–विशेषित है, इसलिये एतद्धर्म–निरूपित जाति द्वारा व्याप्य है', ऐसे अनुमान द्वारा उक्त प्रकार–ज्ञान की उपपत्ति होती है। 'इस व्यक्ति में जिस धर्म का प्रत्यक्ष हो रहा है उसका अन्य अनेक व्यक्तियों में प्रत्यक्ष हुआ है, और इसलिये यह निश्चय बना है कि वे सब एक ही जाति–विशेष के व्यक्ति हैं, इस कारण अभी जिसका प्रत्यक्ष हो रहा है वह व्यक्ति भी उसी जाति–विशेष का व्यक्ति है', इत्याकारक ज्ञान हमें होता है। उक्त अनुमान में इन दो वाक्याकारों के ज्ञान की अपेक्षा होती है : एक यह कि, 'जो भी एतद्धर्म–विशिष्ट है वह एतद्–जाति–व्याप्य है', और दूसरा यह कि, 'पूर्वज्ञात अनेक व्यक्ति एतद्–जाति–व्याप्य हैं'। प्रथम वाक्य में उद्देश्य एक जाति–विशेष है और विधेय है उस जाति के समान या व्यापकतर अन्य जातिय अतएव यह जाति की जाति व्याप्यता का आकार है। और अनुमिति–वाक्य व्यक्ति–विशेष की जाति–व्याप्यता का आकार है। तो, हमें यह स्वीकार करना होगा कि व्याप्यत्व या जाति–व्याप्यत्व और एक–व्याप्यत्व संबंध के ये तीन प्रकार उभरते हैं : सर्व–(व्यक्ति)–व्याप्यत्व, अनेक–व्याप्यत्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और एक–व्याप्यत्व। 'इस रूप का यह विषय एतत्धर्म–विशिष्ट है', 'तत्धर्म–विशिष्ट नहीं है' और 'एतत्धर्म के अभाव से विशिष्ट है' इत्याकारक वाक्य–त्रय को धर्मि–संबंध के प्रकार–त्रय का आकार कहा जा सकता है। धर्मित्व का स्फुटतम प्रकार अभाव–वैशिष्ट्य है। एतत्धर्म के अभाव का निश्चय अन्य–धर्म–विशिष्ट विषय में ही किया जा सकता है। अतएव, यह निश्चय इन दो निश्चयों की अपेक्षा रखता है कि 'प्रकृत विषय में अन्य धर्म तो है, पर एतत्धर्म नहीं है'। इस तरह धर्मित्व–संबंध के ये तीन प्रकार सिद्ध होते हैं : भाव–(धर्म)–वैशिष्ट्य, भाव–अवैशिष्ट्य और अभाव–वैशिष्ट्य।

कारणता संबंध के ये तीन प्रकार स्वीकार किये जा सकते हैं : उपादान–कारणता, निमित्त–कारणता और अन्योन्य–कारणता। क और ख, इन दो विषयों में जब क ख में और ख क में युगपत् विकार का उत्पादन करे तो इनके संबंध को अन्योन्य–कारणता संबंध कहा जा सकता है। यह संभव है कि क ख के जिस विकार का कारण है, उसी समय उस विकार से भिन्न किसी और धर्म द्वारा अवच्छिन्न ख क के किसी विकार का कारण हो। इस तरह अगर हम क और ख के परस्पर कारण हो पाने की बात को स्वीकार करें तो प्रत्येक को स्वगत विकार का उपादान–कारण और अपरगत विकार का निमित्त–कारण कहना होगा। यहां हमें अन्योन्य–कारणता, उपादान–कारणता और निमित्त–कारणता, इन तीनों की अपेक्षा उभरती दिखती है, अतएव इस कारणता को स्फुटतम कारणता का नाम दिया जा सकता है। कारणता क और ख इन दो पदार्थों के अस्तिता–घटित संबंध का नाम है। ख क के रूप में है, पर नहीं भी हो सकता है – ऐसे में क का अस्तित्व ख के अस्तित्व से अभिन्न होता है, और इस अर्थ में 'क ख ही है', इसे उपादान–कारणता का वाक्याकार कहा जा सकता है। अस्तित्व की अपेक्षा से ख क से भिन्न है, पर फिर यह भी है कि क है तभी ख है; इस अर्थ में कहा जा सकता है कि 'अगर क है तो ख भी है' – यह निमित्त–कारणता का वाक्याकार है। 'क ख ही है', इस वाक्य में क ख व्याप्य है, पर क का अस्तित्वख से अभिन्न है। 'अगर क है तो ख भी है', इस वाक्य में क का अस्तित्व ख के अस्तित्व द्वारा व्याप्य है। अगर क और ख का अस्तित्व भिन्न है और इन दोनों में कोई–सा एक भी न हो तो दूसरा भी नहीं होगा, तो इस अर्थ में कहा जा सकता है कि 'या तो क है या ख है' : ऐसे वाक्य को अन्योन्य–कारणता का (वाक्याकार) रूप कहा जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अवश्यंभाव–रूप ज्ञातता–प्रकार अपर दोनों ज्ञातता प्रकारों की अपेक्षा रखते हैं; यही ज्ञातता–प्रकार–मात्र का अनुमानात्मकत्व है; इस प्रकार–त्रय के अनुरूप व्याप्यता–धर्मिता–कारणता रूप ज्ञात–विषय–संबंध और प्रतिसंबंध के तीन प्रकार स्वतःसिद्ध भावेन प्रतिपन्न हो जाते हैं। अध्यवसाय के दो रूप हैं : विषय–मात्र–ज्ञान और विषय की ज्ञातता का ज्ञान। पहले ज्ञान की प्रतीति दूसरे ज्ञान में ही होती है। द्वितीय ज्ञान के तीन स्वतःसिद्ध प्रकार हैं, और इन्हीं से प्रथम ज्ञान का नवधात्व सिद्ध होता है। यों विधेयता–संबंध के द्वादश प्रकार उभरते हैं जिन्हें अनुमानात्मक अवश्यंभाव–प्रकार का विस्तार माना जा सकता है। अनुमानात्मकता का अर्थ है : व्याप्ति, पक्षधर्मिता और अनुमिति, इन अवयव–त्रय से संवलित होना; अनुमानगत इस त्रित्व–रूप सूत्र का अवलंबन करें तो प्रकार–विभाग भी सिद्ध हो जाता हैय अतएव, ये विभाग सम्यक् हैं, अर्थात् ये द्वादशमूल–प्रकार परस्पर–सापेक्ष हैं और इनके अतिरिक्त कोई अन्य प्रकार नहीं है दृ यह उपपन्न हो जाता है। यह भी सिद्ध हो जाता है कि इन द्वादश प्रकारों के अनुरूप बुद्धिक्रिया के भी द्वादश ही प्रकार हैं।

(ख 2) मूलप्रकारकेप्रामाण्यकीउपपत्ति

विषय–ज्ञान का होना विधेयता संबंध के प्रत्यय का होना ही होता है। पर उद्देश्य–विधेयात्मक वाक्य ज्ञेय विषय का प्रकाशक नहीं भी हो सकता है। 'यह विषय अकारण है' अर्थात् 'यह स्वभाववशतः आरब्ध हुआ है', या 'यह नियमवशतः आरंभक है', ऐसे वाक्यों के बारे में यह बोध नहीं होता कि 'ये निरर्थक हैं'। कहा जा सकता है कि स्वभाव और नियमतः होना विषय के प्रकार के रूप में कल्पित तो होता है, पर इनके विषय के प्रति प्रयुक्त होने पर वचनव्याघात–दोष होता है। 'विषय–जगत् अपना ही कारण है, या कार्य है', ऐसे वाक्य में स्वकारणता विषय के प्रकार के रूप में कल्पित होती है, लेकिन कांट के मत में विश्वरूप विषय के प्रति प्रयुक्त कारणता विषय के प्रकार का ज्ञान नहीं होती, यह एक ज्ञानेतर निश्चय–मात्र होता है। उपरि उल्लिखित द्वादश प्रकार का ज्ञान तभी होता है जब प्रकार देशकालाकार–परिच्छिन्न विषय के प्रति प्रयुक्त हो। हां, ऐसे विषय की जो देशकाल–निरपेक्ष पर परिच्छिन्न हो, उसके प्रकार की कल्पना की जा सकती है। पर ऐसी कल्पना विषय का निश्चय नहीं होती, अलीक कल्पना मात्र होती है। अतएव, कहा जा सकता है कि इन तीनों क्षेत्रों में ही प्रकार की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कल्पना से किसी ज्ञान का उदय नहीं होता। केवल उल्लिखित द्वादश प्रकार के जो देशकालाकार–परिच्छिन्न विषय हैं, प्रकार के उनके प्रति प्रयुक्त होने पर ही ज्ञान का उदय होता है। पर यह बात प्रमाण चाहती है।

ज्ञान या ज्ञातता की बात सप्रकार या प्रकारयोग्य विषय के बारे में ही की जा सकती है। ज्ञात विषय–वाचक वाक्य मात्र का उद्देश्य विषय और विधेय प्रकार होता है। पर यहां हमें इस बात का प्रमाण चाहिये कि विषय के प्रति, परिच्छिन्न विषय के प्रति और देशकालाकार–परिच्छिन्न विषय के प्रति प्रयुक्त न होने पर प्रकार ज्ञात नहीं हो सकता। कांट ने विषयज्ञान और विषय की ज्ञातता के पक्ष में इस त्रिविध प्रयुज्यता को स्वतंत्र रूप से प्रमाणित किया है। उन्होंने इसे प्रकार–ज्ञानोपपत्ति और प्रकारज्ञाततोपपत्ति (subjective and objective deduction of categories) के नाम से अभिहित किया है। प्रकारज्ञानोपपत्ति प्रधानतः ज्ञान के अनुभव पर प्रतिष्ठित है, इसलिये इसे वास्तव में प्रमाण नहीं कहा जा सकता। पर ज्ञातता–उपपत्ति विषय–प्रमाण सापेक्ष हैय इसलिये वह प्रमाण कहला सकती है।

ख (2क) प्रकारज्ञानोपपत्ति

आकार–कल्पना और प्रकार–कल्पना, इन दोनों का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। आकार–कल्पना का ही नामान्तर है, 'ग्रहण'। स्मृति को भी आकार–कल्पना या ग्रहण कहा जा सकता है। कहा जा सकता है कि ये दोनों कल्पनायें ज्ञानक्रिया या अध्यवसाय के अंग हैं। यह संभव है कि वे ज्ञान के अंग न हों, पर उनके ज्ञानांग होने पर दोनों को ज्ञान या अध्यवसाय का नाम दिया जा सकता है। स्फुट अध्यवसाय ज्ञानांग–प्रकारक ज्ञान ही होता है; इसकी तुलना में ज्ञानांग–आकार–ज्ञान या ग्रहण को अस्फुट अध्यवसाय कहना उचित है। विषय का संबंध–ज्ञान ही अध्यवसाय होता है। संबंध–ज्ञान संबंधनरूपी बुद्धिक्रिया होती है। प्रकारक–संबंधन ही स्फुट बुद्धिक्रिया है। ग्रहण के इन्द्रिय–क्रिया होने पर भी ज्ञानांग ग्रहण या आकारक संबंधन को बुद्धिक्रिया ही कहना होगा। स्मृति को ग्रहण कहा तो जा सकता है, पर स्मृति–सापेक्ष संबंधन में होती बुद्धिक्रिया को आकारक या प्रकारक, इन दोनों संबंधनों से भिन्न बुद्धिक्रिया स्वीकार करना होगा। स्मृत आकार या आकारित विषय में होती संबंधन रूपी क्रिया को आकारकज्ञान नहीं कहा जा सकता, पर फिर भी यह संभव है कि वह स्फुटरूपेणप्रकारक ज्ञान भी न हो। जिस विषय की स्मृति किसी प्रत्यक्ष विषय से जाग उठती है, उस स्मृति में यह आवश्यक नहीं कि स्मृत विषय का प्रत्यक्ष विषय से कोई

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संबंध भी प्रतिभात हो। अगर होता भी है तो उस संबंध के विषय में यह ज्ञान नहीं होता कि 'यह आकारक सन्निवेश ही है'; और अगर संबंध विधेयता संबंध हो तो भी वह स्मृति मात्र में विधेयता संबंध के रूप में उपलब्ध नहीं होता। अतएव, कहना होगा कि स्मृति रूपी ज्ञान में एक स्वतंत्र संबंधन क्रिया की अपेक्षा है। स्फुट प्रकार–ज्ञान तो विधेयता संबंध का ज्ञान ही होता है। इस स्फुट–प्रकारक–ज्ञान को प्रकार–प्रत्यभिज्ञा भी कहा जा सकता है। तो, प्रत्यक्ष, स्मृति और प्रकार–प्रत्यभिज्ञा, इस ज्ञान–त्रय की घटक तीन सबंधन क्रियायें हैं, जो अनुभवसिद्ध हैं।

इन तीन क्रियाओं का परस्पर संबंध क्या, इसके निरूपण का अब प्रयोजन है। प्रकार–प्रत्यभिज्ञा स्मृति की अपेक्षा रखती है, और स्मृति प्रत्यक्ष अभिज्ञा की सापेक्ष है। लेकिन प्रत्यक्ष स्मृति की अपेक्षा नहीं करता, न स्मृति प्रत्यक्ष अभिज्ञा की अपेक्षा करती है। 'प्रकार' शब्द से केवल मूल प्रकार ही नहीं समझना चाहिये। वाक्य में विधेय पद द्वारा अभिहित संबंध–जाति–मात्र प्रकार होता है। 'उद्देश्य–विषय विधेय–जाति का आश्रय व्यक्ति–विशेष हैं। इस ज्ञान के होने पर तज्जाति के आश्रय अन्य स्मृत–व्यक्तियों के साथ उद्देश्य–विषय के सादृश्य आदि स्मारक संबंधों का ज्ञान होता है। अन्य व्यक्तियों का यह ज्ञान और उनके साथ उद्देश्य–व्यक्ति का सादृश्यादि ज्ञान एक ही ज्ञान होता है। यह सादृश्यादि ज्ञान ही स्मृति–घटक संबंधन–क्रिया है। इसलिये कहा जा सकता है कि प्रकारक–प्रत्यभिज्ञा–घटक या प्रकारक संबंधन क्रिया में स्मृति–घटक या स्मारक संबंधन की अपेक्षा रहती है। स्मारक–संबंध के संबंधी दो प्रत्यक्षयोग्य विषय होते हैं। प्रत्यक्षयोग्य विषय देशकालाकारात्मक या सन्निवेशात्मक होता है। पर सन्निवेश–ज्ञान में स्मारक–संबंधन की और स्मारक–सादृश्य–ज्ञान में प्रकारक–संबंधन की अपेक्षा नहीं होती। पूर्वप्रत्यक्ष विषय के साथ परवर्ती प्रत्यक्ष विषय का सन्निवेश–ज्ञान होता तो है पर यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है, स्मृति नहीं। यों, स्मारक और स्मारित विषय का संबंध प्रकारक संबंध तो होता है, पर स्मृति में यह ज्ञान नहीं होता कि 'यह प्रकारक संबंध है'। स्फुट संबंध–ज्ञान प्रकार–प्रत्यभिज्ञा ही होता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि संबंध व्यक्तिहीन जाति है और उसका ज्ञान प्रत्यभिज्ञा मात्र होता है। ऐसा अनुभव हमें नहीं होता कि 'स्मारक–संबंध और सन्निवेश–संबंध संबंध–जातीय हैं'। ये संबद्ध व्यक्ति के रूप में ही आभासित होते हैं। परप्रकारकसंबंधज्ञान में तदंगीभूत या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गर्भीभूत सन्निवेश–सादृश्य–आदि ज्ञान संबंध ज्ञान के रूप में ही उपलब्ध होता है; इसलिये सन्निवेश–सादृश्य–आदि को भी संबंध कहा जा सकता है।

वाक्य में जो विधेय–पद द्वारा अभिहित होता है, उसे व्यापक अर्थ में 'प्रकार' कहा जा सकता है। यह प्रकार विषय–प्रकार न हो तो वाक्यानुपाती प्रत्यय को विषय–ज्ञान का नाम नहीं दिया जा सकता। हम कह चुके हैं कि विषय–प्रकार होने का लक्षण प्रत्यभिज्ञेयत्व है। प्रकार के अनुभव में ही उसके प्रत्यभिज्ञेयत्व या अप्रत्यभिज्ञेयत्व की प्रतीति होती है। जिस प्रकार के बारे में यह अनुभव होता है कि 'यह अप्रत्यभिज्ञेय है', वह विषय–प्रकार नहीं होता। स्वभाव, नियति आदि का अनुभव अप्रत्यभिज्ञेय प्रकार के रूप में होता है, इसलिये ये विषय–प्रकार नहीं हैं। स्वभाव या नियति निष्कारण आरब्धत्व या आरंभकत्व का नाम है। 'कारण का अभाव', इस बात का हमें कोई अनुभव नहीं होता; अनुभव कारण–ज्ञान के अभाव का ही होता है। ज्ञानाभाव का यह अनुभव ही निष्कारणत्व का अनुभव होता है। विषयज्ञान का अनुभव विषय के प्रत्यभिज्ञेयत्व का अनभव होता है, और उक्त ज्ञानाभाव का अनुभव विषय के अप्रत्यभिज्ञेयत्व का अनुभव होता है। और यों, निष्कारण स्वभावादि प्रकार के अनुभव को प्रकार के अप्रत्यभिज्ञेत्व का अनुभव कहा जा सकता है। अतएव, यह नहीं कहा जा सकता कि अप्रत्यभिज्ञेयत्व का प्रयोग विषय के बारे में किया सकता है।

यह संभव है कि प्रकार प्रत्यभिज्ञेय हो, पर फिर भी ज्ञेय विषय न हो। जो प्रकार–बुद्धि स्मारक–बुद्धि की अपेक्षा नहीं करती, उस प्रकार–बुद्धि द्वारा विषय–ज्ञान नहीं होता। विषय के परिच्छिन्न होने पर ही सादृश्यादि स्मारक संबंधों का प्रत्यय संभव होता है। अपिरिच्छिन्न विषय अर्थात् विश्वजगत्, इसके किसी से सादृश्य आदि की बात निरर्थक है। स्मारक–बुद्धि भी अगर सन्निवेश–बुद्धि की अपेक्षा न रखती हो, तो भी विषय–ज्ञान नहीं होता। सन्निवेश दैशिक और कालिक ही होता है; इससे भिन्न किसी अन्यविध सन्निवेश की कल्पना नहीं की जा सकती। यह संभव है कि विषय का प्रत्ययप्रकारक–बुद्धि की और स्मारक–बुद्धि सन्निवेश–बुद्धि की अपेक्षा न भी करे। अगर अपरिच्छिन्न विषय अथवा देशकालातीत परिच्छिन्न विषय प्रत्यभिज्ञेय–प्रकार–गत हो तो ऐसा विषय ज्ञात तो नहीं होता, पर उसे निरर्थक भी नहीं कहा जा सकता। यह ज्ञान हमें नहीं है कि 'देशकालातीत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'परिच्छिन्न विषय या अपरिच्छिन्न विषय जैसा कुछ नहीं होता है'। पर, हां, हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि ऐसे विषय का और उसके प्रति प्रयुक्त प्रकार का हमें ज्ञान नहीं होता है'।

ख (2ख) प्रकार–ज्ञातता की उपपत्ति

ज्ञान के अनुभव के आधार पर प्रकारज्ञान की निम्न उपपत्ति बनती है। ज्ञात विषय के प्रकार और कालाकार, इनकी परस्पर–सापेक्षता विचार के प्रसंग में हम पहले ही प्रकार–ज्ञातता की उपपत्ति का आभास दे चुके हैं। जो विषय प्रकारित होता है, कालाकार में वह भिन्न नहीं होता। और अप्रकारित कालाकार विषय के रूप में ज्ञात नहीं होता। हम कह चुके हैं कि अवश्यंभाव ज्ञातता का स्फुटतम प्रकार है। कारणता का ज्ञातता ज्ञान ही अवश्यंभाव है। कारणता कालाकार में भिन्न नहीं ज्ञात होती। इसलिये कहा जा सकता है कि कालाकार में ही अवश्यंभावरूपी प्रकारमूल ज्ञात होता है। कालाकार–कल्पना – अथवा कहें, उसकी मानस अंकन–गति – इसका प्रत्यय अनन्य दिक् के रूप में होता है : अर्थात 'यही दिक् है, अन्य दिक् नहीं', ऐसा प्रत्यय न हो तो कालाकार ज्ञान नहीं होता। यह दिक्–प्रत्यय ही कालाकार–गत प्रकार का ज्ञान होता है। विषय की ज्ञातता मानस अथवा अंतरिन्द्रिय की साक्षात्ग्राह्य विषय होती है, और मानसविषय की कालाकार से अलग कोई सत्ता ही नहीं होती; इसलिये यह मानना होगा कि कारणता का ज्ञान कालाकार में ही होता है। यह ठीक है कि मानस–विषय कालाकार ही होता है, देशाकार नहीं होता, लेकिन हम पहले ही कह चुके हैं कि मानस–विषय–ज्ञान देश–कालाकार बाह्य विषय का ही ज्ञातताज्ञान होता है। ज्ञात मानस विषय प्रकारित कालाकार होता है, वही प्रकार ज्ञात बाह्य विषय का प्रकार होता है। विषय का स्फुट या अस्फुट अवश्यंभाव ही विषय की ज्ञातता या प्रत्यभिज्ञेयता होती है। अवश्यंभाव कारणता–संबंध की ज्ञातता है, और कारणता–संबंध में विषयघटक संबंध–मात्र अंतर्भुक्त है। ज्ञातता कालाकारापेक्ष कारणता और कारणतापेक्ष कालाकार में ही होती है; और ज्ञातता रूपी कालाकार–मानस–विषय का ज्ञान ही देश–कालाकार बाह्य विषय का ज्ञान होता है। अतएव, विषयमात्र की ज्ञातता प्रकार और कालाकार की परस्पर–सापेक्षता की ज्ञातता होती है।

कहा जा सकता है कि ज्ञातता–उपपत्ति की मूल बात यही है कि 'प्रकारज्ञातता मानसविषय है'। आत्मा की ज्ञातता सप्रकार नहीं होती, और उस ज्ञातता को मानस–विषय भी नहीं कहा जा सकता। विषय की ज्ञातता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकारज्ञातता होती है, वह मानस–विषय होती है, और इसीलिये लौकिक–प्रमाणापेक्ष उपपत्ति की भी मांग करती है। आत्मज्ञातता का केवल अनुभव ही होत। है : कृत्यात्मक आत्मज्ञान में विषय की ज्ञाता आत्मा की साक्षात् प्रत्यभिज्ञा होती है; इस प्रत्यभिज्ञा के कारण ही यहां विषयप्रकारक ज्ञान निष्प्रयोजन है। कृतिस्वरूप आत्मा का अनुभव ही विषयज्ञाता आत्मा की प्रत्यभिज्ञा है; यह प्रत्यभिज्ञा विषय–प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती। लेकिन विषय के स्फुट ज्ञान में जो प्रत्यभिज्ञा होती है, वह अपने ज्ञातता रूपी मानसविषय के विषय–प्रमाण–सापेक्ष विश्लेषण के बिना सम्यक् उपपन्न नहीं होती। कहा जा सकता है कि विषयज्ञान का अनुभव विषय–प्रमाण की अपेक्षा न करता हुआ जो स्वतःविश्लेषित हो जाता है, वह प्रत्यभिज्ञात्मक विश्लेषण प्रकारज्ञान की उपपत्ति भी है। लेकिन वह अनुभवमात्र होता है; वह अगर प्रमाणापेक्ष ज्ञातता–उपपत्ति द्वारा दृढीभूत न हो तो उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

विषय–ज्ञान के विश्लेषण से जिस बुद्धि–क्रिया–त्रय का अनुभव होता है, उसके फलस्वरूप पदार्थत्रय की उपलब्धि विषयज्ञातता के विश्लेषण से होती है। ऐसा कहा जा सकता है कि ज्ञाततासंबंध प्रत्यभिज्ञात्मक बुद्धिक्रया का फल है, ज्ञानविषय संबंध स्मारक बुद्धिक्रिया का फल है, और सन्निवेषसंबंध सन्निवेषक बुद्धिक्रिया का फल है। यह भी कहना ठीक होगा कि अवश्यंभाव ज्ञाततासंबंध का स्फुट रूप है, कारणता ज्ञातविषयसंबंध का स्फुट रूप है, और सन्निवेशसंबंध का स्फुट रूप कालिकसंबंध है। विषय की प्रत्यभिज्ञा अवश्यंभाव–ज्ञान की अपेक्षा करती है, स्मृति कारणता–ज्ञान की अपेक्षा करती है और प्रत्यक्ष कालिकसंबंध–ज्ञान की अपेक्षा करता है। विषय के अवश्यंभाव–ज्ञान के बिना प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। विषय की प्रत्यभिज्ञा विषय के प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है। प्रकार के विषय–निष्ठ होने का अर्थ ही विषय के ज्ञातता–प्रकार की ज्ञातता है। अवश्यंभाव प्रकार की स्फुट ज्ञातता का ही नाम है, और ज्ञातता–ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा है, अतएव, विषय की प्रत्यभिज्ञा का अर्थ ही विषय का अवश्यंभाव–ज्ञान है। सन्निवेषसंबंध ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है; कालिकसंबंध सन्निवेषसंबंध की ही छाया होता है, इसीलिये स्फुटरूपेण प्रतिभात होता हैय और तभी दैशिक–संबंध के मानस–प्रत्यक्ष में यह उपलब्धि होती है कि 'यह संबंध कालिक–संबंध द्वारा घटित है'। अतएव, प्रत्यक्ष के बारे में यहं कहा जा सकता है कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'कालिकसंबंध का ज्ञान ही प्रत्यक्ष है'। स्मृति स्मारकसंबंध का ज्ञान है। स्मारक और स्मारित विषय का जो संबंध स्मृति में उपलब्ध होता है, वह ज्ञात विषय–द्वय के कालाकारगत प्रकार का ऐक्यरूप सादृश्य होता है। स्मृति में जो इस सादृश्य का अनुभव होता है उस अनुभव के बारे में यह कहा जा सकता है कि उसमें तद्विषय–द्वय के उभयसाधारण प्रकार का ज्ञान अस्फुटभावेन गर्भीभूत रहता है। ज्ञात विषय का संबंध–मात्र कारणतासंबंध के अंतर्भुक्त होता है। इसलिये कहा जा सकता है कि स्मारक सादृश्य का अनुभव कारणता–ज्ञान का ही अस्फुट अनुभव होता है। (तो, निष्कर्ष यह कि) कालिकसन्निवेष–घटित प्रत्यक्षयोग्य विषयद्वय के सादृश्यानुभव–घटित, और स्मृति के अस्फुट विषयीभूत, क़ारणतासंबंध का ज्ञातताज्ञान या अवश्यंभावज्ञान में ही विषय की प्रत्यभिज्ञा होती है।

प्रकारक बुद्धि द्वारा ज्ञान सर्वत्र नहीं होता। हम कह चुके हैं कि आत्मा की स्वाधीनकारणता का प्रकारज्ञान नहीं होता, ज्ञानेतर निश्चय मात्र होता है। ज्ञान विषय–प्रकार का ही होता है। विषय–प्रकार की ज्ञातता भी विषय ही है – मानस या कालिक विषय। इस विषय को 'कालाकारापेक्ष प्रकार' भी कहा जा सकता है और 'प्रकारित कालाकार' भी – दोनों तरह से बात कही जा सकती है। पर क्योंकि आत्मा का निश्चय प्रकार के कलाकार से निरपेक्ष होता है इसीलिये विषय–प्रकार की ज्ञातता का प्रकार और कालाकार, इन दोनों में अभेद होते हुए भी भेद का प्रत्यय रूप लेता है। तभी कहना पड़ता है कि प्रकार–बुद्धि अगर कालाकार–ग्रहण की अपेक्षा न करे तो ज्ञान नहीं होता, और कालाकार प्रकारित रूप में ही गृहीत होता है, अर्थात् कालाकार का ग्रहण प्रकार–ज्ञान में गर्भीभूत विषयज्ञान विशेष है। कालाकार गृहीत होते ही ज्ञात हो जाता है, पर प्रकार अगर बुद्धिक्रिया द्वारा निश्चित हो भी जाये तो भी कालाकार में प्रयुक्त हुए बिना ज्ञात नहीं होता। विषयज्ञान में होती प्रकार–कल्पना कालाकार–कल्पना की अपेक्षा रखती है। यह आकांक्षा पूरी न हो तो प्रकारज्ञान नहीं होता। कालाकार का ग्रहण इस आकांक्षा को पूरी करता है। कालाकार के ग्रहण के पूर्व उसमें जो प्रकारबुद्धिगत आकांक्षा रहती है उसीको हम पहले सूत्राकार–कल्पना कह चुके हैं। जो प्रकार सूत्राकार रूप में कल्पनायोग्य नहीं होता, वह ज्ञात भी नहीं हो सकता। (देश)–कालद्वारा परिच्छिन्न विषय के प्रति प्रयुक्त प्रकार का ही, प्रामाण्य स्वीकृत हुआ है,क्योंकि ऐसा प्रकार ही सूत्राकार रूप में कल्पित हो सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

13. सूत्राकार और सौत्र अध्यवसाय (Scheme and Principle)

सूत्राकार–कल्पना द्वारा प्रकारक बुद्धिक्रिया के कालाकर विषय पर प्रयुक्त होने पर विषयज्ञान – या अध्यवसाय – होता है। हम कह चुके हैं सूत्राकार प्रकारनियंत्रित अनादि आकारधारा है। (गृहीतकालाकार में) इस कल्पित आकारधारा का अवसान ही कालाकार में प्रकार का प्रयोग है। कालाकारमात्र रूपी शुद्ध विषय में प्रकार के प्रयोग से जो अध्यवसाय जन्म लेता है उस अध्यवसाय को सौत्र अध्यवसाय कहा जा सकता है। प्रकारभेद से सूत्राकार–भेद होता है, और सूत्राकार–भेद से सौत्र अध्यवसाय में भेद होता है। व्याप्यता, धर्मिता, कारणता और ज्ञातता रूपी चार प्रकारक संबंधों के अनुरूप कालाकार की चार भावों में कल्पना की जा सकती है। व्याप्यता के अनुरूप कालिकसंतति (series), धर्मिता के अनुरूप (इन्द्रिय–प्राप्त विषय–धर्म की) स्थिति (contents), कारणता के अनुरूप (गृहीत विषय का) कालिक नित्य–संबंध (order), और ज्ञातता के अनुरूप कालरूप शुद्ध पदार्थ का (तद्गत विषय के साथ) संबंध (comprehension) – कालाकार के ये चार भाव निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। इन चार भावों की अपेक्षा से सूत्राकार के और सौत्र अध्यवसाय के विभाग निर्णीत होंगे।

विषय–ज्ञान के साथ संबंध ही ज्ञातता– या विषयता – है। यह संबंध अगर ज्ञात विषय हो तो सूत्रकाल रूप से ही प्रतिभात होता है। शुद्ध कालपदार्थ में कालिक या कालावच्छिन्न विषय की जो आकांक्षा रहती है वह आकांक्षा ही उस विषय के साथ काल का स्वरूपसंबंध होती है, इसलिये उसे सूत्रभूत काल ही कहना चाहिये। काल का सूत्र–भाव ही विषय का या कालाकार का ज्ञातता–भाव होता है। यह सूत्रभाव–प्रत्यय ही काल और कालिक विषय का भेद–प्रत्यय होता है। ज्ञातकाल में कालिकविषय विषयभाव से रहता ही है – कालिकविषय के ज्ञान से पहले उसका जो ज्ञेयत्वज्ञान रहता है, वही सूत्रभूतकाल का ज्ञान होता है। विषय–ज्ञान के पूर्व उसका जो ज्ञेयत्व–ज्ञान होता है उस ज्ञेयत्व को सिद्ध या परिनिष्ठित विषय नहीं कहा जा सकता, उसे साध्य–विषय (postulate) ही कहना होगा। हमने जो ज्ञातता को मानस या कालिक विषय कहा है, वह ज्ञेयता रूपी साध्य–विषय ही है। पर इस साध्य–विषय का ज्ञान होता है। कृतिज्ञान में आत्मा के स्वाधीन–कर्तृत्व आदि का जो प्रत्यय होता है, वह भी साध्य–विषय ही है, लेकिन यह प्रत्यय निश्चय तो होता है, ज्ञान नहीं होता। ज्ञेयता रूपी साध्यविषय में सिद्ध विषय के घटक प्रकार और (देश)–कालादि गर्भीभूत रहते हैं, इसलिये ये भी साध्यविषय हैं। सूत्रभूत काल और तद्गर्भीभूत प्रकार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सूत्र–कालाकार–प्रकार के रूप में व्यक्त होता है; पर पूर्णकालाकार प्रकार्यमान रूप में, अर्थात् सौत्र अध्यवसाय के रूप में, व्यक्त होता है। सिद्ध–विषय–घटक सूत्रभूत पदार्थ–मात्र साध्य–विषय होता है। इन्द्रिय द्वारा प्राप्त और गृहीत विषय के साथ एकीभूत हो कर ये साध्य–विषय सिद्ध–विषय में परिणत हो जाते हैं।

सूत्रकाल विषय की ज्ञातता ही है। यह अध्यवसाय कि ज्ञात विषय 'किसी भी काल में (अर्थात, किसी भी कालिकनियमसंगत काल में) रह सकता है', और यह अध्यवसाय कि 'वह इस काल में है', और यह कि 'वह सर्व काल में है', ये तीन अध्यवसाय क्रमशः संभावना, अस्तितता और अवश्यंभाव, इन तीन ज्ञातता–प्रकारों के अनुरूप सौत्र–अध्यवसाय के नाम से जाने जा सकते हैं; औरं इस सौत्र अध्यवसाय के अंगस्वरूप सूत्रकाल की त्रिविध विषय–आकांक्षा को उसी तीन प्रकार के सूत्राकार का नाम देना चाहिये। हमें यह अध्यवसाय होता है कि 'ज्ञात विषय काल में ही रहता है, इसलिये किसी भी कालिक विषय का अन्य कालिक विषयों के साथ नित्य कालिक संबंध होता ही है' – यह अध्यवसाय ही कारणता रूपी प्रकारक संबंध के अनुरूप सौत्र अध्यवसाय है। उपादानकारणता, निमित्तकारणता और अन्योन्यकारणता रूपी प्रकार–त्रय के अनुरूप उपादान के साथ उसके विकार का नित्य संबंध होता है; विकारांतर रूपी निमित्त के साथ विकार का नित्य संबंध होता है और उपादान–द्वय हों तो उनके साथ अन्योन्यकारणता का तद्गत विकार–घटित नित्य संबंध होता है – ये तीन नित्य कालिक संबंध हैं, जिनका स्वीकार करना युक्त है। इन तीन नित्य संबंधों के आधार पर सौत्र–अध्यवसाय–त्रय और सूत्राकार–त्रय का निर्देश किया जा सकता है। कालिक–विषय का तदन्य–विषय जो शुद्ध काल है, उसके साथ होते संबंध को ज्ञातता संबंध की छाया कहा जा सकता है। किसी कालिकविषय का अन्य कालिकविषय के साथ संबंध कारणता संबंध की छाया है। ये दोनों कालिक संबंध कालिकविषय के अन्य कालिक विषय के साथ होते संबंध हैं। कालिक विषय काल और इन्द्रिय–प्राप्त विषयधर्म, इन दोनों के संवलित–हो–कर–बनते विषय का नाम है। विषयापेक्ष काल के विषय–निरपेक्ष स्वगत संबंध को व्याप्यता–संबंध की कालिक छाया कहा जा सकता है। इसी तरह, काल–निरपेक्ष, अर्थात् केवल इन्द्रिय–प्राप्त विषयधर्म के कालापेक्ष स्वगत–संबंध को धर्मिता संबंध की कालिक छाया कहा जा सकता है। ये दोनों कालिकछायायुक्त स्वगत–संबंध भी कालिक–संबंध कहला सकते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अब प्रयोजन व्याप्यता और धर्मिता संबंध के छाया रूपी कालिक–संबंध की व्याख्या का है। कालिक विषय के दो परिमाण माने जा सकते हैं : काल की दृष्टि से; और इन्द्रिय–प्राप्त विषयधर्म की दृष्टि से। देशाकार कालाकार के गर्भीभूत रहता है, इसलिये यहां 'काल' शब्द से देश भी उपलक्षित है। 'एक विषय अपर विषय से बृहत्तर है', देशकाल की दृष्टि से इस ज्ञान में जो देशकाल घटित अतिशय का ज्ञान होता है, उसे विषय का व्यापक परिमाण या बहिःपरिमाण (eqtensive quantity) कहा जा सकता है। ऐसे ही परिमाण की अपेक्षा से 'एक रूपवत् विषय अपर रूपवत् विषय से उज्ज्वलतर है', एतज्जातीय ज्ञान भी होता है; इस ज्ञान में रूपादि इन्द्रियप्राप्त विषयधर्म द्वारा घटित जिस अतिशय का ज्ञान होता है, उसे विषय का इयत्ता परिमाण या अंतःपरिमाण (intensive quality) कहा जा सकता है। सच पूछें तो ऐसे आपेक्षिक अतिशय को परिमाण न कह कर परिमाण का परिमापक कहना उचित है। परिमाण एक विषयगत धर्म है, उसका प्रत्यक्ष तद्विषय के प्रत्यक्ष के सिवा किसी अन्य प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं करता, लेकिन फिर भी उसका 'परिमाण क्या', इस ज्ञान के लिये, अर्थात् उसकी एतावत्ता के स्फुट ज्ञान के लिये, यह अपेक्षा रहती है। आपेक्षिक अतिशय ज्ञान के द्वारा एकविषयगत परिमाण की एतावत्ता का ज्ञान होता है।

बहिःपरिमाण के एतावत्ता ज्ञान और अंतःपरिमाण के एतावत्ता ज्ञान में प्रभेद है। किसी विषय के बहिःपरिमाण के प्रत्यक्ष के साथ अगर विषय के अंशित्व का भी प्रत्यक्ष हो तो उस अंशापेक्ष अतिशय के द्वारा वह परिमाण परिमापित होता है। विषयधर्म के अंतःपरिमाण के प्रत्यक्ष में वह धर्म अंशी के रूप में प्रत्यक्षगोचर नहीं हो सकता। उस प्रत्यक्ष में अगर उस धर्म का ज्ञान अल्पतर–परिमाण–युक्त विषयांतर के समेत हो तो उसी परिमाण–सापेक्ष अतिशय द्वारा तद्धर्म–परिमाण का परिमापण होता है। पर बहिःपरिमाण का अंशापेक्ष अतिशय तत्–परिमाण से अभिन्न होता है, लेकिन उस परिमाण का प्रत्यक्ष उस अतिशय के प्रत्यक्ष से भिन्न होता है। अंतःपरिमाण का अल्पतर–परिमाण–सापेक्ष अतिशय तत्–परिमाण से भिन्न होता है, लेकिन उस परिमाण का प्रत्यक्ष उस अतिशय के प्रत्यक्ष से अभिन्न होता है। अतएव, कहा जा सकता है कि विषय के बहिःपरिमाण की एतावत्ता विषय की काल–व्याप्यता है, और विषयधर्म के अंतःपरिमाण की एतावत्ता विषय की काल–धर्मिता है। बहिःपरिणाम का प्रत्यक्ष उसकी एतावत्ता के प्रत्यक्ष से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भिन्न होता है, इसलिये उस एतावत्ता के बारे में कहा जा सकता है कि 'यह मानो विषय की कालधर्मिता है' – अर्थात् उसकी प्रतीति भाक्तधर्मिता के रूप में होती है। इसी तरह, विषय के अंतःपरिणाम की एतावत्ता उसकी भाक्त–व्याप्यता के रूप में प्रतीत होती है। काल–व्याप्यता का अर्थ है, विषय–व्यापी काल का संतति रूपी अतिशय क्रमय और काल–धर्मिता का अर्थ है, काल–व्याप्त विषयधर्म का घनत्व रूपी अतिशय क्रम। कालिक–संतति रूपी अतिशयक्रम को संख्या कहा जा सकता है, और कालिक–घनत्व रूपी अतिशयक्रम को इयत्ता का नाम दिया जा सकता है। बहिःपरिमाण विषय का व्यापक या संख्यात्मक परिमाण होता है। अंतःपरिमाण वास्तव में विषय का परिमाण होता ही नहीं, वह विषय का इयत्ता–धर्मित्व होता है। विषय–धर्म की इयत्ता विषय का ही धर्म होती है : विषय होता ही इयत्ता–धर्मी है। परिमाण विषय का धर्म नहीं होता, वह विषय का अपने अंश से संबंध होता है। विषय का प्रत्यक्ष विषयधर्म के प्रत्यक्ष से अभिन्न होता है, लेकिन वह विषय–परिमाण के प्रत्यक्ष से भिन्न होता है। परिमाण की धर्म के रूप में प्रतीति और धर्म की परिमाण के रूप में प्रतीति औपचारिक प्रतीति मात्र होती है।

विषय के तथाकथित अंतःपरिमाण की एतावत्ता, अर्थात् विषय की इयत्ता, यह विषय का धर्मित्व है। पर बहिःपरमाण की एतावत्ता विषय का धर्मित्व नहीं है, वह विषय की व्याप्यता है। काल के अल्पाधिक स्थायित्व से धर्म विषय का भेद नहीं होता। लेकिन किसी विषयधर्म के अल्पाधिक्य से विषय का धर्मित्व–भेद होता है। अल्पाधिक–काल–स्थायित्व का अर्थ है, अल्पाधिक काल–संतति द्वारा विषय की व्याप्यता। काल–संतति का परिमापण समपरिमाण कालांश की संख्या द्वारा होता है। किसी अंश की अपेक्षा से अंश–समष्टि का अतिशय भी समष्टि का अंश होता है। अतएव, कालसंतति को कालांश विशेष की पुनरावृत्ति से घटित समष्टि कहा जा सकता है। संख्या समष्टि–घटित पुनरानृत्ति ही होती है। पर संख्या केवल काल–संतति की परिमापक ही नहीं है, उसकी घटक भी है। विषय–क्रम के अतिशय की भी संतति के रूप में कल्पना की जा सकती है। अब, क्योंकि अंतःपरिमाण काल–संतति रूपी उपाधि द्वारा परिमापित होता है, इसलिये उसे भाक्त–संतति कहा जा सकता है। इस रूप में संख्या अंतःपरिमाण की परिमापक तो होती है, पर संख्या को अंतःपरिमाण की घटक नहीं कहा जा सकता। कल्पना की जा सकती है कि विषय की इयत्ता का परिमापन इयत्ता के अंश विशेष की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुनरावृत्ति द्वारा किया जाये। पर बहिःपरिमाण के क्षेत्र में यह पुनरावृत्ति समपरिमाण अंश समूह की सन्निवेश-समष्टि होती है। अंशपरिमाण के क्षेत्र में भी ऐसी ही, अंश-समूह की समष्टि के रूप में कल्पित, पुनरावृत्ति की कल्पना तो की जा सकती है, पर 'यह सन्निवेश-जात है', यह कल्पना नहीं रूप लेती; कल्पना यही होती है कि 'यह संक्रमण-जन्य है या अंतःप्रवेश-जन्य है'। बहिःपरिमाण को हम अगर सन्निवेशात्मक कालसंतति या व्यापक कालसंतति के रूप में देखें, तो अंतःपरिमाण को संक्रमणात्मक कालसंतति के रूप में देखा जा सकता है। अंतःपरिमाण वस्तुतः इस अर्थ में संक्रमणात्मक कालसंतति होता है कि वह क्रमवर्धिष्णु पदार्थ होता है। कालसंतति उसकी परिमापनार्थ उपाधि होती है; इसीलिये उसे कालिक पदार्थ का नाम दिया जा सकता है। अंतःपरिमाण की परिमापक इयत्ता भी इसी अर्थ में कालिक पदार्थ है। संख्या बौद्ध-व्याप्यता-संबंध का सूत्रकालाकार होती है; और इयत्ता बौद्ध-धर्मिता-संबंध का सूत्रकालाकार होती है। किसी भी विषय में संख्यात्मक परिमाण का अध्यवसाय होता ही है, और उसमें परिमाण-कल्प्य इयत्ता का भी अध्यवसाय होता है – इन दो अध्यवसायों को सूत्राकार-द्वय के अनुरूप सौत्र अध्यवसाय का नाम दिया जा सकता है।

14. अध्यवसाय-बुद्धि (Understanding) और उपपत्ति-बुद्धि (Reason)। सौत्र अध्यवसाय (Principle of Understanding) और काष्ठा-निश्चय (Idea of Reason)।

कारणता-संबंध के साथ ज्ञान का संबंध ही ज्ञातता-संबंध है। कारणता की कालिक छाया नित्य कालिक संबंध है, और ज्ञान की कालिक छाया शुद्ध काल है। अतएव, ज्ञातता की कालिक छाया को 'नित्य-कालिक-संबंध के साथ काल का संबंध', इस रूप में समझना होगा। ज्ञातता के तीन प्रकार हैं; उनके अनुरूप काल के इस संबंध के भी तीन प्रकार हैं, अर्थात्, यह कहा जा सकता है कि 'कालिक संबंध तीन तरह से नित्य होता है'। 'क अगर काल में हो तो ख भी होगा ही', यह वाक्य नित्य- कालिक-संबंध को प्रकाशित करता वाक्य है। अब, हो सकता है कि इस वाक्य में यह सूचना न भी हो कि 'क काल में होगा ही'। लेकिन 'क हो या न हो, पर अगर क हो तो ख होगा ही', इत्याकारक तर्क वाक्य के तात्पर्य को संबंध की कालिक संभावना, अथवा नियम कहा जा सकता है। 'क इस रूप में ज्ञात है कि वह काल में है, अतएव ख भी काल में है, इस रूप में ज्ञात होगा' –

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यही इनके कालिक संबंध की कालिक अस्तिता या वर्तमानता है। यह पहले से ज्ञात हो कि क और ख दोनों काल में हैं तो 'क है इसीलिये ख है', यह कालिक अवश्यंभावता ही कालिक अवश्यंभाव अथवा वर्तमानता का नियम है। नियम, वर्तमानता और वर्तमान विषय, कालिक कारणता संबंध की नित्यता को इन तीन प्रकारों से समझा जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञेयत्व ही प्रकारक–संबंध का संबंधत्व है। प्रत्यभिज्ञेयत्व जिस पदार्थ का अवश्यंभूत लक्षण होता है, वह पदार्थ नित्य होता है, इसलिये प्रकारक–संबंध या प्रकार मात्र को नित्य कहा जा सकता है। नियम आदि कालिक नित्यता के रूप में उपलभ्य नित्य प्रकार ही ज्ञेय प्रकार है। अवश्यंभाव को स्फुटतम ज्ञेय प्रकार कहा जा चुका है। अवश्यंभाव ज्ञान का स्फुट रूप अनुमान है। अनुमान से वर्तमानता–नियम रूपी कालिक नित्यता का ज्ञान होता है। पर हो सकता है कि नियम मात्र के ज्ञान से संबंध की वर्तमानता का ज्ञान न भी हो, लेकिन जिस नियम की वर्तमानता का ज्ञान न हो वह नियम अवर्तमान नियम नहीं हो जाता, उसके बारे में कहा जा सकता है कि उसमें वर्तमानता की योग्यता बनी रहती है। हां, योग्यताहीन नियम की भी कल्पना की जा सकती है, पर फिर नित्यता कालिक नित्यता नहीं, कालातीत नित्यता होगी। अनुमान से जिस वर्तमान–नियम–रूपी कालिक नित्यता का ज्ञान होता है, उसके साथ ऐसी कालातीत नित्यता का भी एक प्रकार का निश्चय जागता है। अनुमिति का विषय अवश्यंभाव रूपी ज्ञातता है। व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान के समाहार से जो ज्ञान होता है उसका विषय है, व्याप्ति–विशिष्ट–पक्षधर्मता–रूपी ज्ञातता। अनुमिति रूपी ज्ञान में यह समाहारज्ञान गर्भीभूत रहता है। अनुमान–क्रिया के ज्ञान–द्वय के अंतःसंबंध के अनुरूप होती ज्ञातता–द्वय के अंतःसंबंध के अनुरूप ज्ञातता–द्वय के अंतःसंबंध का निश्चय होता है। ज्ञातता रूपी संबंध ज्ञात–विषय–निष्ठ होता है, इसलिये कहा जा सकता है कि इस ज्ञातता रूपी संबंध में भी ज्ञातता होती है, लेकिन ज्ञातता–संबंध–द्वय के अंतःसंबंध को ज्ञात–विषय–निष्ठ नहीं कहा जा सकता। अतएव उसमें ज्ञातता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। पर उसके अलीक होने का भी प्रत्यय नहीं होता। अब, क्योंकि ज्ञातता–संबंध के सूत्रकालाकार की कल्पना की जा सकती है, इसलिये उसकी भी ज्ञातता स्वीकार्य हो जाती है, लेकिन मानना यही होगा कि क्योंकि ज्ञातता के अंतःसंबंध का कोई सूत्रकालाकार नहीं है, इसलिये ज्ञातता भी नहीं है। अब, उसका निश्चय स्वीकार करें तो उसकी नित्यता का भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वीकार हो जाता है, लेकिन यह नित्यता कालिक नित्यता नहीं, कालातीत नित्यता होती है। ज्ञातता की नित्यता कालिक नित्यता होती है। अनुमान–क्रिया में ज्ञातता के अंतःसंबंध का जो प्रत्यय होता है, उसकी नित्यता कालातीत है, अर्थात्, वह वर्तमानता–योग्यता–विहीन नियम मात्र है। इसी अंतःसंबंध का नाम उपपत्ति है।

अनुमान में उपपत्ति का प्रत्यय अनुमिति के घटक के रूप में होता है। यों अनुमिति की घटक होने कारण उपपत्ति अनुमिति से अभिन्न होती है, पर वह अनुमिति से अतिरिक्त भी होती ही है – उसके लिये दोनों बातें कही जा सकती हैं। इन दो में से प्रथम रूप में उपपत्ति को ज्ञात अवश्यंभाव कहना होगा। अवश्यंभाव–ज्ञान ही सौत्र–अध्यवसाय का ज्ञान होता है, इसलिये ज्ञात–अवश्यंभाव को सौत्र–अध्यवसाय कहा जा सकता है, और यों, अनुमितिगत उपपत्ति को सौत्र–अध्यवसाय मात्र के रूप में ही ग्रहण करना होगा। अनुमिति से अतिरिक्तभावेन प्रतीत उपपत्ति सौत्र–अध्यवसाय या कालापेक्ष अवश्यंभाव नहीं होती। पर ऐसी उपपत्ति की ही कालातीत नित्यता स्वीकार की जा सकती है। अगर कालिक उपपत्ति को सौत्र–अध्यवसाय या अनुमिति कहें तो कालानीत उपपत्ति को सौत्र–अनुमिति कहना होगा। सौत्र–अध्यवसायात्मक बुद्धि ही अध्यवसायक या प्रकारक बुद्धि (Understanding) होती है। सौत्र–अनुमित्यात्मक बुद्धि को उपपत्ति–बुद्धि, युक्ति–बुद्धि या तर्क–बुद्धि (Reason) कहा जा सकता है।

एक ज्ञातता से किसी अन्य ज्ञातता की उपपत्ति होती है और उस ज्ञातता की भी किसी और ज्ञातता से उपपत्ति होती है – इस कारण से उपपन्न ज्ञातता की घटक उपपत्ति को अनादि–प्रवाहगत मानना होगा। यह ठीक है कि ज्ञातता की उपपत्ति सर्वत्र प्रकट नहीं होती, पर उपपत्ति–विहीन ज्ञातता का भी कोई अर्थ नहीं बनता। इसलिये कहा जा सकता है कि ज्ञातता मात्र ही अनादि–प्रवाह द्वारा घटित होती है। ज्ञातता स्थित या वर्तमान पदार्थ है। अनादि–प्रवाह इस स्थित पदार्थ में ही अंतःप्राप्त या पर्यवसित होता है, इसलिये उसे भी एक प्रकार का स्थिंत पदार्थ कहा जा सकता है। किसी अनादि पर सान्त प्रवाह की स्थित–विषय के रूप कल्पना की जाये तो वह स्थित विषय निरतिशय या काष्ठाभूत विषय के रूप में प्रतीत होता है। इसलिये उपपत्ति–बुद्धि को काष्ठाबुद्धि का नाम दिया जा सकता है। किसी प्रकृत ज्ञातता से अन्य ज्ञातता की उपपत्ति, उससे फिर किसी और ज्ञातता कीं उपपत्ति, ऐसी अनवस्था को अगर सादि पर अनंत उपपत्ति प्रवाह कहें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो ऐसे प्रवाह की विषय–रूप में कल्पना नहीं की जा सकती। अनादि पर सान्त उपपत्ति प्रवाह रूपी निरतिशय विषय को ज्ञेय विषय तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन उसे अलीक पदार्थ भी नहीं कहा जा सकता। जो विषय ज्ञेय न हो, पर अलीक भी न हो, ऐसा विषय ही ध्येय विषय होता है।

ऊपर हमने बुद्धि का प्रकारक या अध्यवसाय धर्म और अतिविषय–प्रत्यभिज्ञा रूपी धर्म, इन दो धर्मों का उल्लेख किया है। अध्यवसाय धर्म बुद्धि की क्रिया है। प्रत्यभिज्ञा का रूप ज्ञान है इसलिये वह क्रिया नहीं है, पर उसे इस अर्थ में क्रिया कहा जा सकता है कि वह क्रिया के गर्भीभूत होती है। इस अर्थ में उपपत्ति–बुद्धि अतिविषय–प्रत्यभिज्ञा ही है। विषय–ज्ञान के आत्मभूत जो अतिविषय–प्रत्यभिज्ञा होती है, और अनुमान–रूपी विषय–ज्ञान का घटक जो उपपत्ति–प्रत्यय होता है, ये दोनों ही विषय–ज्ञान के अतिरिक्त प्रत्यय हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि यह प्रत्यभिज्ञा विषय–ज्ञान में कृत्यात्मक आत्मज्ञान की छाया होती है। यह छायारूप क्रिया ही उपपत्ति–संबंध–प्रत्यायक क्रिया होती है। उपपत्ति की कालातीत नित्यता निरतिशय विषय के रूप में कल्पित होती है, यह कल्पना निष्प्रयोजन या निरर्थक नहीं होती। इसका प्रयोजन ध्यान है, ध्यान में ही इसकी सार्थकता है। प्रकारक बुद्धिक्रिया ज्ञान के प्रयोजन से परिच्छिन्न होती हो या सातिशय विषयों में प्रयुज्य होती हो, पर वह फिर भी अपरिच्छिन्न या निरतिशय विषय की नियत आकांक्षा रखती है। तभी ज्ञान–परीक्षा में यह प्रतीति उभर आती है कि यह आकांक्षा बुद्धि का स्वभाव है, या यह नियति ही है। धर्म बोध में बुद्धि की ज्ञापक और अज्ञापक क्रिया–मात्र के प्रयोजन का अनुभव होता है, इसलिये आकांक्षा रूपी अज्ञापक बुद्धिक्रिया का भी प्रयोजन स्वीकार्य हो जाता है। यह प्रयोजन धर्म–तंत्र या कृत्यात्मक प्रयोजन होता है। कृति में विषयता या विषय की ज्ञातता की जो नित्य आकांक्षा बनी रहती है, धर्म बोध में उसी का विषय–ज्ञान–क्रिया के प्रयोजन के रूप में निश्चय होता है। अतएव, इस ज्ञातता के घटक उपपत्ति–प्रवाह रूपी निरतिशय विषय के प्रत्यय को धर्म–प्रयोजित क्रिया कहा जा सकता है। धर्म–प्रयोजित होने के कारण यह क्रिया निश्चयात्मक होती है, कल्पना मात्र नहीं।

15. आत्मा, जगत् और ईश्वर, इस काष्ठा–त्रय की उपपत्ति

ज्ञातता के ये तीन प्रकार हैं : संभावना, अस्तिता और अवश्यंभाव। तीनों प्रकार अनुमित हो सकते हैं। क्योंकि अनुमिति अवश्यंभाव–ज्ञान ही होती है, इसलिये इन तीनों प्रकारों की अनुमिति को संभावना, अस्तिता और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अवश्यंभाव का अवश्यंभाव कहा जा सकता है। हम कह चुके हैं कि कारणता की ज्ञातता ही अवश्यंभाव है। इसलिये इन तीनों प्रकार के अवश्यंभाव या अनुमिति को कारणता की ज्ञातता के तीन प्रकार भी कहा जा सकता है। संभावना–अनुमिति को उपादान–कारणता की, अस्तिता–अनुमिति को निमित्त–कारणता की और अवश्यंभाव–अनुमिति को अन्योन्य–कारणता की ज्ञातता कहना चाहिये। इन तीन कारणता–ज्ञातताओं के घटक तीन उपपत्ति–प्रवाह होते हैं, यह भी स्वीकार किया जा सकता है। एक एक प्रवाह का निश्चय एक एक निरतिशय विषय के रूप में होता है। उपादान–कारणता–ज्ञातता के घटक प्रवाह का निश्चय निरतिशय आत्मा के रूप में होता है, निमित्त–कारणता–ज्ञातता के घटक प्रवाह का निश्चय निरतिशय जगत् के रूप में और अन्योन्य–कारणता–ज्ञातता के घटक प्रवाह का निश्चय निरतिशय ईश्वर के रूप में होता है। आत्मा, जगत् और ईश्वर, ये तीन निरतिशय – या काष्ठाभूत – विषय अज्ञेय पर ध्येय पदार्थ हैं।

उपादानकारणता रूपी विधेयतासंबंध ज्ञान में उपादान विशेष्य के रूप में और विशेषण विकार के रूप में ज्ञात होता है। 'यह उपादान इस विकार द्वारा विशिष्ट है', यह इस ज्ञान–जात ज्ञातता का आकार है। 'इस उपादान का भी उपादान है, और तदुपादान का भी उपादान है', ऐसे अनादि पर सान्त उपादान प्रवाह का हमें निश्चय होता है। इस प्रवाह को ज्ञातताभावेन विशेष्य–प्रवाह कहा जा सकता है। हर विशेष्य विशेष्यांतर का विधेय होता है, इस विशेष्य–प्रवाह के काष्ठाभूत विशेष्य का नाम आत्मा है। जो विशेष्य शेषविशेष्यांतर का विशेष्य नहीं है, अथवा यह कहें कि जो स्वशेष्य है, वही आत्मा है। 'ऐसे इस विकार का निमित्त अन्य विकार है, और उसका निमित्त कोई और अन्य विकार' इत्याकार अनादि पर सान्त निमित्त–प्रवाह का हमें निश्चय होता है। ज्ञातता के रूप में उपादान को विशेष्य कहें तो विकार को विशेषण कह सकते हैं। अतएव, निमित्त–प्रवाह को विशेषण–प्रवाह कहा जा सकता है। विशेषणी–भूत विकार का निमित्त विकार तद्–विशेषण का व्याप्य विशेषण होता है। निमित्त–प्रवाह या विकार–प्रवाह ही जगत् रूपी स्थित–पदार्थ भावेन कल्पित होता है। आत्मा, जो ज्ञातता रूपी विशेष्यकाष्ठा है, उसकी अपेक्षा से इसे (जगत् को) अनात्मभूत विशेषणकाष्ठा कहना उचित होगा। अन्योन्यकारणता की ज्ञातता विशेषित–विशेष्य–भावेन प्रतीत होती है। दो उपादान अगर एक–दूसरे के विकार के निमित्त हों, तो उनमें अन्योन्य–कारणता संबंध होता है। इस संबंध में 'दोनों संवलित हो कर एक ही संस्थान के घटक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होते हैं', यह बात कही जा सकती है। इस संस्थान की ज्ञातता ही विशेषित–विशेष्यता है। संस्थान विशेष्य होता है और उसका प्रत्येक उपादान उसका अंग या विशेषण। 'यह संस्थान व्यापकतर संस्थान का अंग है, और तत्–संस्थान और अधिक व्यापकतर संस्थान का अंग है', संस्थान के या विशेषण–विशेष्य प्रवाह के अनादि पर सान्त प्रवाह का निश्चय इत्याकारक होता है। इस प्रवाह की काष्ठा जगत् रूपी विशेषण–काष्ठा और आत्मा रूपी विशेष्य–काष्ठा, इन दो के संवलन से बनी एक (अद्वय) विशेषित–विशेष्य काष्ठा है। निरतिशय वस्तु या वस्तुता की काष्ठा जगत् या अनात्म–काष्ठा रूपी देह–विशिष्ट आत्मा है। इस काष्ठा का नाम ही ईश्वर है।

संबंध के अनादि पर सान्त प्रवाह को स्थित पदार्थ के रूप में काष्ठा कहा जा सकता है। काष्ठा संबंध भी है संबंध–विषय भी है, इसलिये उसे स्वसंबंध या स्वसंबद्ध पदार्थ कहना उचित होगा। ज्ञेय प्रकारों का विचार करते हुए हम विषय की व्याप्यता, धर्मिता, कारणता और ज्ञातता (या विषयता) रूपी संबंध–चतुष्टय का उल्लेख कर चुके हैं। ज्ञातता या विषयता को तदन्य संबंध–त्रय का संबंध कहा जा सकता है। स्वसंबंध या स्वसंबद्ध पदार्थ भी व्याप्यता संबंध–त्रय भावेन कल्पित होता है। आत्मा और जगत् एक–दूसरे से अन्य हैं, अतएव इनका अन्य के साथ ज्ञातता या विषयता रूपी संबंध कल्पित हो सकता है। पर काष्ठाभूत ईश्वर के अन्य पदार्थ की या उसके साथ संबंध की कल्पना नहीं की जा सकती। यह मानना होगा कि आत्मा और जगत् के चार प्रकार के संबंध कल्पनीय हैं, और ईश्वर के मात्र तीन प्रकार के संबंधों की कल्पना हो सकती है। हम कह चुके हैं कि काष्ठा ध्येय पदार्थ है, ज्ञेय पदार्थ नहीं – के रूप हम यह भी कह चुके हैं कि ध्येय पदार्थ की ज्ञेय के रूप में कल्पना एक मौलिक भ्रम है। कांट का निर्देश है कि आत्मा और जगत् विषयक मौलिक भ्रम प्रत्येक में चार प्रकार का है; और ईश्वर विषयक मौलिक भ्रम के तीन प्रकार हैं।

काष्ठा मात्र की स्वव्याप्य, स्वधर्मी, और स्वकारण रूप में कल्पना की जा सकती है। आत्मा और जगत् की स्वविषयी या स्वविषय रूप में कल्पना भी सार्थक है, पर ईश्वर के विषय में ऐसी कल्पना का कोई अर्थ नहीं। आत्मा और जगत् के विषय में ऐसी कल्पना की जाये तो भ्रम हो सकता है कि 'यह ज्ञान है' पर ईश्वर के विषय में ऐसा नहीं होता। या यह कहा जा सकता है कि ईश्वर की स्वकारणता और स्वविषयता, दोनों का अर्थ एक ही है। ईश्वर रूपी काष्ठा आत्मा या जगत् की तरह केवल स्थित या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिनिष्ठित पदार्थ के रूप में कल्पित नहीं होती, वह इस रूप में भी कल्पित होती है कि वह अद्वितीय पदार्थ है। आत्मा और जगत् एक–दूसरे के अन्य तो हैं ही उनमें प्रत्येक के अनेक होने की भी कल्पना बाधित नहीं होती। यह ठीक है कि व्याप्यता संबंध की दृष्टि से आत्मा एक ही है – जैसे किसी ज्ञात विषय के संबंध को अन्य ज्ञात विषय की अपेक्षा से समझना होता है, आत्मा के एकत्व को उस तरह अन्य आत्मा की अपेक्षा से नहीं समझना होता – फिर भी आत्मा के प्रत्यय में अन्य की अपेक्षा के निषेध का बोध नहीं है। जगत् के बारे में भी यही बात कही जा सकती है, लेकिन आत्मा में अनेकत्व की जैसी देही–रूपों में प्रसक्ति है, जगत् में अनेकत्व की वैसी प्रसक्ति नहीं है। 'जगत् अनेक हैं या नहीं' यह प्रश्न स्वतः नहीं उठता, पर फिर भी अनेक जगत् की कल्पना असंभव नहीं है। अब, आत्मा के एकत्व को जिस अर्थ में समझा जा सकता है, देश या काल का एकत्व भी उसी अर्थ में समझा जाना चाहिये– अर्थात् देश और काल के अनेकत्व का भी निषेध तत्–प्रत्यय–निष्ठ नहीं है। देशकाल रूपी मूल आकार प्रसिद्ध है। विषय का मूल प्रकार–ज्ञान जैसी उपपत्ति की आकांक्षा रखता है, देशकाल रूपी मूल आकार–ज्ञान वैसी उपपत्ति की आकांक्षा नहीं रखता – यह हम पहले ही कह आये हैं। लेकिन प्रकार की उपपत्ति के होने पर अकार की उपपत्ति का भी प्रसंग उठ खड़ा होता है; देशकाल या देशकालात्मक जगत् अनेक हो सकता है या नहीं, यह प्रश्न स्वतः न उठता हो, पर इस प्रसंग में उठ खड़ा होता है।

16. व्याप्यता आदि संबंध से आत्मा और जगत् के चार भाव एवं ईश्वर के तीन भाव

व्याप्यता संबंध से आत्मा एक (अद्वय) है, धर्मिता संबंध से निरवयव है, कारणता संबंध से द्रव्य है, और विषयता संबंध से देह–रूपी आत्मा से संबद्ध है, अर्थात् देही है – इन चार प्रकारों से यह ज्ञेय है, ऐसा हमें भ्रम होता है। जगत् व्याप्यता संबंध से ससीम अथवा असीम है, देशकाल–घटित धर्मिता संबंध से अविभाज्य अथवा विभाज्य अंशों द्वारा घटित है, कारणता संबंध से सनिमित्त अथवा निर्निमित्त प्रवाह है, और ज्ञातता संबंध से सोपपादक अथवा निरुपपादक उपपादक प्रवाह है – इन चार द्वंद्व रूपों में वह ज्ञेय है, ऐसा भ्रम भी होता है। ईश्वर व्याप्यता संबंध से जगदात्मा है, धर्मिता संबंध से पूर्ण है, और कारणता संबंध से आत्मपूर्ण भावेन ज्ञेय है, ऐसा भी भ्रम होता है। विषयज्ञान में कारणता की ज्ञातता (या अवश्यंभाव) की अपेक्षा से धर्मिता की ज्ञातता (या अस्तिता) है, और धर्मिता की ज्ञातता की अपेक्षा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से व्याप्यता की ज्ञातता (या संभावना) है, ऐसा हम समझते तो हैं, लेकिन यहां यह भी मानना होगा कि धर्मिता व्याप्यता की अपेक्षा करती है, और कारणता धर्मिता की। धर्मिता का अर्थ ही है, 'धर्म द्वारा धर्मी की व्याप्यता' और कारणता का अर्थ है, 'धर्मी द्वारा ही धर्मी की व्याप्यता'। ज्ञातता या विषयता की काष्ठा का प्रत्यय उपपत्ति–प्रवाह के रूप में होता है, इसलिये इस प्रत्यय को समझना यों चाहिये कि इसमें काष्ठा की कारणता से धर्मिता है और धर्मिता से व्याप्यता। आत्मा और ईश्वर के संदर्भ में हम अगर कारणता–भाव से आरंभ न करें तो हम इनके धर्मिता और व्याप्यता भाव को नहीं समझ सकते। इसलिये कांट ने इन काष्ठाओं के पहले तीन भावों को विपरीत–क्रम से देखा है। पर जगत् के संदर्भ में उन्होंने ऐसा नहीं किया है, इसका कारण क्या, इसके निर्देश की अब आवश्यकता है।

जगत् ज्ञेय और अनात्म नहीं है, पर उसकी कल्पना अनात्म–भाव से ही की जाती है। ईश्वर का अर्थ है, जगत्–विशेषित या जगत्–संवलित आत्मा। आत्मा को जगत् और ईश्वर से अलग करते हुए जिस काष्ठा को आत्मा कहा गया है उसका अर्थ है, विशेषण–वर्जित विशेष्य। अब, विशेष्य की तो विशेषण–हीन रूप में कल्पना की जा सकती है, पर विशेषण को विशेष्य के विशेषण रूप में ही समझा जा सकता है। विशेषण के प्रत्यय में विशेषण विशेष्य से भिन्न भी है और अभिन्न भी है, इन दोनों रूपों में उसका बोध होता है। अनात्म–विषय की अगर विशेष्य भावेन कल्पना करें, तो भी वह तदूर्ध्व विशेष्य के विशेषण भावेन ही कल्पित हो सकता है – इस भाव से अगर अनात्मभूत विशेषण–प्रवाह रूप जगत् को आत्मभूत विशेष्य का विशेषण कहा जाये तो आत्मा और जगत् की कल्पना भेदाभेद भावेन करनी होगी। आत्मा कृत्यात्मक वस्तु है, अनात्मा उससे भिन्नाभिन्न है, इसीलिये अनात्मा को आभासात्मक वस्तु कहा गया है। तो, जगत् की व्याप्यता आदि की कल्पना दो तरह से करनी चाहिये : आत्म–भिन्न और आत्म–अभिन्न। जगत्–रूपी काष्ठा का प्रत्येक भाव ही द्वंद्वात्मक है – उसके व्याप्यता आदि भाव–त्रय आत्म–अभिन्न रूपेण कारणता–धर्मिता–व्याप्यता, इस क्रम से, और आत्म–भिन्न रूपेण ज्ञेय विषय की तरह एतत्–विपरीत क्रम से, अर्थात् व्याप्यता–धर्मिता–कारणता, इस क्रम से निर्दिष्ट हो सकते हैं।

हमने ऊपर आत्मा और जगत् प्रत्येक की व्याप्यता आदि संबंध से चार भावों की, और ईश्वर के तीन भावों की बात की है। अब इसकी व्याख्या का प्रयोजन है। आत्मा की प्रथम कल्पना कारणता संबंध से की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाती है। इस संबंध से आत्मा को द्रव्य कहा गया है। यहां, इस संदर्भ में, 'द्रव्य' का अर्थ है, 'स्वविशेष्य पदार्थ'। ज्ञात उपादान और विकार को ज्ञातता के हिसाब से विशेष्य और विशेषण कहा जा सकता है। जो उपादानकारण उपादानांतर का विकार नहीं होता, वही चरम द्रव्य है; ज्ञातता के हिसाब से वह स्वविशेष्य पदार्थ है। जो विशेष्य किसी अन्य विशेष्य का विशेषण नहीं होता, ज्ञातता के अर्थ में उसकी कल्पना अपने ही विशेषण – या स्वविशेषण – के रूप में की जानी चाहिये। स्वविशेष्य आत्मा चरम द्रव्य का ही ज्ञातता–प्रकार है, अतएव कारणता संबंध से स्वविशेष्य आत्मा को द्रव्य कहा जा सकता है। द्रव्य के ही सावयवत्व और निरवयवत्व की कल्पना संभव है। अवयवी द्रव्य को तद्–अवयव का विकार नहीं कहा जा सकताय अवयव अवयवी से भिन्न तो होता है, पर उसे अवयवी का उपादान नहीं कहा जा सकता; अवयव को अवयवी का धर्म कहना ही उचित है। बात को और भी सूक्ष्म भाव से कहें तो कहा जा सकता है कि अवयव भी धर्मी है और अवयवी इस धर्मी का धर्मी है – अर्थात्, अवयव का धर्मित्व अवयवी का धर्म है। अवयवी को अवयव–विशिष्ट तो कहा जा सकता है, पर उसके विकार को उपादान–विशिष्ट नहीं कहा जा सकता। अवयवी इस विशेषक धर्म का धर्मी होता है। इस परिप्रेक्ष्य से अवयवी–भाव को निरवयव द्रव्य का धर्म भी कहा जा सकता है। निरवयव आत्मा का निरवयवत्व आत्मा का ही धर्मित्व होता है। निरवयव आत्मा को स्वव्याप्य अर्थ में 'एक' कहा जा सकता है। पर हम कह चुके हैं कि यह एकत्व अनेकत्व की अपेक्षा नहीं रखता। आत्मा स्वविशेष्य द्रव्य तो है, पर वह देह–रूप आत्मा द्वारा विशेष्य भी है। यह अनात्म–विशेष्यता ही आत्मा की विषयता है।

व्याप्यता आदि संबंध से जगत् द्वंद्व रूप में कल्पित होता है। जगत् अखंड देशकाल द्वारा व्याप्य है। ऊपर हम देश के परिमाण का विचार करते हुए उसे असंख्य अंश–संतति–घटित पदार्थ कह चुके हैं। यह भी कह चुके हैं कि ससीम देशाकार – या अंशी देश में – जिस संतति का पर्याप्त या पर्यवसित रूपेण प्रत्यक्ष होता है, वह तद्देशाकार की अंतःसंतति होती है। जिस अंशी देश की संतति का यों पर्यवसित रूपेण प्रत्यक्ष नहीं होता, वह संतति, अर्थात् बहिःसंतति, अप्रत्यक्ष पदार्थ होती है, इसलिये उसका विचार पहले नहीं किया गया था। यह बहिःसंतति वह अखंड देशकाल है जो कि जगत् का व्यापक है। जगत्–व्यापक देशकाल की, अथवा व्याप्य जगत् की,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

असीम या ससीम दोनों रूपों में कल्पना की जा सकती है। दोनों रूपों में ही जगत् असंख्य अंशसंतति भावेन कल्पित होता है। विभाग क्रम से किसी भी अंशी को असंख्य अंशसंतति–रूप कहा जा सकता है। हम कह चुके हैं कि अंशी द्रव्य का अंश या अवयव अंशी का धर्म होता है। जगत् रूपी अंशी द्रव्य को अगर अंश–संतति कहा जाये तो उसके चरम अंश या अवयव को धर्मिता संबंध से निरवय या सावयव, उभय भावेन ही कल्पित किया जा सकता है। पर कारणता संबंध से जगत् के विषय में इत्याकारक द्वंद्व–भाव–निष्ठ कल्पना आवश्यक है कि वह निमित्त–प्रवाहात्मक होता हुआ अनादि या निमित्तहीन भी है और सादि या स्वनिमित्तापेक्ष भी है। निमित्त–प्रवाह के अतिरिक्त और कोई निमित्त नहीं होता, अथवा कह सकते हैं कि निमित्त स्वतंत्र और स्वनिमित्त होता है – यह दोनों कोटियां ही अपरिहार्य हैं। इसी तरह यह कोटि–द्वंद्व भी अवश्यकल्पनीय है कि ज्ञातता संबंध से उपपादक प्रवाहात्मक जगत् के अतिरिक्त या तत्–गर्भीभूत कोई आत्मसाधक उपपादक नहीं है, अथवा है।

'निमित्त से कार्य का होना'; यह जो अनुस्यूति होती है, या कहिये, उपपादक के साथ उपपादित का जो संबंध है, क्या उसका भी कोई निमित्त या उपपादक होता है या नहीं होता – यह प्रश्न उठना अनिवार्य है। 'अंशी किसी बृहत्तर अंशी का घटक होता है', अथवा 'अंशी अंश में विभाज्य होता है', यह बात उपपत्ति की मांग नहीं करती, लेकिन इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उपपत्ति यहां संभव है। आकारक संबंध सन्निवेश होता है, और वह सन्निवेश भी आकार रूपेण प्रत्यक्ष–गोचर होता है, इसलिये आकारक नियम उपपत्ति की आकांक्षा नहीं रखता। कारणता या ज्ञातता संबंध प्रत्यक्ष–योग्य नहीं होता इसलिये तत्–संबंधापेक्ष नियम की कल्पना उपपत्ति–आकांक्षा के बिना नहीं की जा सकती। इसीलिये यह नहीं कहा जा सकता कि जगत् की व्याप्यता और धर्मिता संबंध से जिस द्वंद्व–द्वय की कल्पना की जा सकती है, वह द्वंद्व–युगल अवश्य–कल्पनीय है – तात्पर्य यह कि यहां द्वंद्व की दोनों कोटियां ही अलीक भी हो सकती हैं। पर कारणता और ज्ञातता संबंध के संदर्भ में द्वंद्व अवश्य–कल्प्य है, इसलिये द्वंद्व की दोनों कोटियां ही यहां वास्तव हो सकती हैं। काष्ठा मात्र ही इस रूप में अवश्य–कल्प्य होती है कि 'यह मानो वास्तव है, इसकी मानो ज्ञेय रूप कल्पना हो सकती है, और नहीं भी हो सकती'। व्याप्यता और धर्मिता भावेन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जगत् को यों कल्पित नहीं किया जा सकता कि 'यह मानो ज्ञेय है', इस संदर्भ में कल्पना यही हो सकती है कि 'यह मानो वास्तव है'। अवश्य–कल्प्य कल्पना का रूप यह होता है कि 'यह मानो ज्ञेय है'। जगत् कारणता और ज्ञातता भावेन अवश्य–कल्प्य है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। ईश्वर के संबंध में व्याप्यता आदि भाव–त्रय की कल्पना इस रूप में की जा सकती है कि 'ये मानो ज्ञेय हैं'। पर आत्मा केनापि भावेन इस रूप में कल्पित नहीं हो सकती कि 'यह मानो ज्ञेय विषय है'। हां, आत्मा की कृत्यात्मक ज्ञातता को स्वीकार किया जा सकता है। आत्मा की कल्पनात्मक ज्ञातता का कोई अर्थ नहीं।

जगत् के संबंध में कारणता आदि भावों की ज्ञेयता की कल्पना हो तो सकती है, पर यह भी संभव है कि यह कल्पना स्फुट न हो। ईश्वर के सबध में व्याप्यता आदि भाव–त्रय की ज्ञेयता की कल्पना सदा स्फुट होती है। ईश्वर रूपी काष्ठा ज्ञेय या प्रमाण–गम्य रूप में कल्पित होती है। 'ईश्वर प्रमाण' और 'प्रमित ईश्वर' दोनों एक ही पदार्थ हैं। ईश्वर की जगदात्मकता, पूर्णता और आत्मपूर्णता, ये तीनों भाव ईश्वर–साधक प्रमाण–त्रय से अभिन्न हैं। हम पहले ही ज्ञातता और वस्तुता के संबंध पर विचार करते हुए कह चुके हैं कि कांट के मत में ज्ञातता या ज्ञेय–विषयता वस्तुता की अपेक्षा करती है, पर वस्तुता ज्ञातता की अपेक्षा नहीं करती। वह आत्मविषय के रूप में कल्पित ही नहीं होती। कृत्यात्मक आत्मज्ञान में कृतिरूपी आत्मा का जो वस्तुता–प्रत्यय उभरता है, उसमें ज्ञेय–विषयता नहीं होती। जगत् कारणता भावेन 'यह वस्तु है', इस रूप में प्रतीत होता है, और उसकी इस वस्तुता की अपेक्षा से ही उसकी ज्ञेय–विषयता कल्पित होती है। आत्मा और जगत् क्योंकि इस रूप में प्रतीत होते हैं कि 'ये वास्तव हैं', इसीलिये उनके बारे में यह प्रतीति भी होती है कि 'ये ज्ञेय हैं', पर उनका वस्तुता–प्रत्यय उनके ज्ञेयता–प्रत्यय की अपेक्षा नहीं करता। एकमात्र ईश्वर का प्रत्यय ऐसा है कि ईश्वर के ज्ञेयता–प्रत्यय से उसका वस्तुता–प्रत्यय उभरता है। ईश्वर की ज्ञेयता ही उसकी वस्तुता की उपपादक होती है – ईश्वर की अज्ञात वस्तुता का कोई अर्थ ही नहीं बनता। जगत् और ईश्वर दोनों ही ज्ञेय–विषय–वस्तु के रूप में कल्पित होते हैं। जगत् वस्तु है इसलिये ज्ञेयविषय भावेन कल्पित होता है, और ईश्वर ज्ञेयविषय है इसलिये वस्तु भावेन कल्पित होता है। ज्ञातता संबंध से जगत् जिस स्वोपपादक वस्तु की अपेक्षा रखता है, वह ईश्वर है –

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह बात ठीक तो है, पर ईश्वर की वस्तुता उसकी अपनी ज्ञातता द्वारा उपपादित नहीं होती, जगत् की ज्ञातता द्वारा उपपादित होती है – इसलिये केवल जगत् मात्र का विचार करें तो यह प्रतीति नहीं होती कि 'यह ईश्वर है'।

ईश्वर के कारणता संबंध का अर्थ उपपादकता है। कहा जा सकता है कि ईश्वर की ज्ञातता उसकी वस्तुता की उपपादक–भावेन कारण या प्रयोजक है। ईश्वर की कल्पना ईश्वर को 'निरतिशय या चरम वस्तु भावेन ज्ञेय विषय' के रूप में कल्पित करती है। यह कल्पना कि 'चरमवस्तु भावेन ज्ञेयता ही ईश्वर की वस्तुता की उपपादक या कारण है' यह कल्पना मुख्य ईश्वर–प्रमाण रूपेण कल्पित होती है । आवश्यक नहीं कि किसी पदार्थ की ज्ञेय रूपेण प्रतीति से उसका वस्तु रूपेण निश्चय हो ही। लेकिन कोई पदार्थ अगर 'चरमवस्तु भावेन ज्ञेय' के रूप में प्रतीत हो तो 'यह चरम वस्तु है' यह निश्चय भी होता है। इस निश्चय की ज्ञान या प्रमाण के रूप में कल्पना भी अवश्यंभावी है, पर यह कल्पना प्रमाण नहीं होती। कांट के मत में ईश्वर के तथाकथित प्रमाण का अर्थ इतना ही है कि ईश्वर की प्रमाणता अवश्यकल्प्य है। इस अर्थ में ईश्वर की चरम वस्तु के रूप में ज्ञेयता–रूपी कारण के आधार पर उसकी चरमवस्तुता के प्रतिपादन को ज्ञेयता–प्रयुक्त ईश्वर–प्रमाण (Ontological Proof) कहा जा सकता है। चरमवस्तुता पूर्णता है – 'पूर्ण' के रूप में ज्ञेयता को पूर्ण वस्तु की आत्मा या स्वरूप कहा जा सकता है – अतएवं, स्वरूप द्वारा उपपादित पूर्ण वस्तु, ईश्वर, को आत्मपूर्ण कहना उचित होगा। ज्ञात–विषय मात्र ही कार्य होता है, कार्य अपूर्ण–धर्मी होता है, पूर्ण–धर्मी की उपपत्ति अपूर्ण–धर्मी के पूरक के रूप में होती है – 'ईश्वर ऐसा पूर्ण–धर्मी ही है', इत्याकारक ईश्वर–प्रतिपादन को अपूर्णता–प्रयुक्त प्रमाण (Cosmological Proof) कहा जा सकता है। इस प्रमाण से यह निश्चय होता है कि 'ईश्वर पूर्ण है'। विषय–संभार का ज्ञान हो तो विषयों की अन्योन्य–कारणता या उनकी एक–संस्थान–वर्तिता का भी ज्ञान होता है। इस ज्ञान में उनकी परस्पर–संगति या उपाय–उपेय संबंध की प्रतीति होती है; किसी संस्थान की व्यापकतर संस्थान के साथ भी ऐसी ही संगति की प्रतीति होती है – और यों संगति रूपी वैचित्र्यमय पूर्णसंस्थानात्मक जगत् की कल्पना उदित होती है। पूर्ण जगत् विषय–भावेन कल्पित होता है, इसलिये उसकी कल्पना अपूर्ण की कल्पना है। इस अपूर्ण के पूरक की हम पूर्ण जगत् द्वारा व्याप्य जगदात्मा के रूप में कल्पना करते हैं। इस संदर्भ में व्याप्यता का अर्थ यह है कि 'पूर्ण जगत् जगदात्मा में गर्भीभूत है'। ईश्वर के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऐसे प्रतिपादन को जगत्–प्रयुक्त प्रमाण (Physico & theological Proof) का नाम दिया जा सकता है। पहले प्रमाण में ज्ञेयता, दूसरे में अपूर्णता और तीसरे में जगत् – ये ईश्वर की वस्तुता के प्रयोजक होते हैं।

17. काष्ठा–त्रय की ध्येयता

आत्मा आदि काष्ठा–त्रय ज्ञेय पदार्थ हैं, ध्येय पदार्थ नहीं; पर आत्मा और जगत्, इनके व्याप्यता आदि भाव–चतुष्टय और ईश्वर के व्याप्यता आदि भाव–त्रय, इन एकादश पदार्थों को ध्येय वस्तु के मूल प्रकार–भेद के रूप में गृहीत किया जा सकता है। हम ऊपर श्रद्धा–ध्यान और आनन्द–ध्यान का उल्लेख कर आये हैं। काष्ठा–त्रय में हर काष्ठा इस द्विविध ध्यान का आलम्बन होती है। श्रद्धा–ध्यान की मुख्य आलम्बन है आत्मा, और आनन्द–ध्यान का मुख्य आलम्बन अनात्मा या विषय है। आत्मा के चार भावों में पहले तीन के ध्यान में ज्ञेय विषय की कोई कल्पना नहीं रहती। आत्मा के चौथे ध्यान, उसके देहित्व भाव में, देह रूपी ज्ञेय विषय की कल्पना रहती तो है, पर वह गौण होती है। जगत् के पहले दो भाव विषय के रूप में तो कल्पित होते हैं, पर ज्ञेय विषय के रूप में कल्पित नहीं होते। अब, क्योंकि कृत्यात्मक आत्मज्ञान विभु–परिमाण और पूर्णधर्मी जगत् का कृत्यात्मक ज्ञान होता है, इसलिये ऐसे जगत् के ध्यान को आत्मा के ध्यान के अंतर्भुक्त कहा जा सकता है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। इस ध्यान को मुख्य भावेन आत्मध्यान और गौण भावेन विषय–ध्यान कहना उचित होगा। जगत् के शेष दो भाव ज्ञेय–विषय–भावेन ही कल्पित होते हैं। ईश्वर आत्मपूर्ण–भावेन ज्ञेय के रूप में कल्पित होता हुआ भी विषय के रूप में कल्पित नहीं होता। ईश्वर के इस भाव के ध्यान को आत्मालम्बन ध्यान का नाम देना चाहिये। ईश्वर की पूर्ण और जगदात्म भावेन कल्पना में विषय की भी कल्पना रहती है। ईश्वर की पूर्ण–भावेन कल्पना में विषय की कल्पना गौण रहती है, पर जगदात्मभावेन ईश्वर की कल्पना में विषय–कल्पना मुख्य होती है। इसलिये पूर्ण कल्पना को मुख्यतः आत्मालम्बन ध्यान कहा जा सकता है और जगदात्म–कल्पना को मुख्यतः विषयालम्बन ध्यान।

जो श्रद्धा–ध्यान का ही आलम्बन होता है, अथवा मुख्यतः श्रद्धा–ध्यान का आलम्बन होता है, उसका धर्माभिमानवशतः ज्ञेय के रूप में भ्रम होता है। इसी तरह जो आनन्द–ध्यान का ही विषय होता है, अथवा मुख्यतः आनन्द–ध्यान का विषय होता है, उसका धर्मविलास–वशतः ज्ञेय के रूप में भ्रम होता है। कांट की निश्चय–परीक्षा का प्रयोजन ही इस भ्रम का निवारण है। यह भ्रम–निवारण धर्मबुद्धि की शुद्धि का आपादक होता है, इसलिये

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निश्चय–परीक्षा को धर्म–ध्यान या श्रद्धा–ध्यान भी कहा जा सकता है। यह श्रद्धा–ध्यान धर्मात्मक आत्मज्ञान का ही विस्तार अथवा विवर्त होता है, इसलिये निश्चय–परीक्षा को ज्ञान का नाम भी दिया जा सकता है।

(3) वेदना–परीक्षा

1. विधेय–विशेषणक और विधेय–विशेष्यक अध्यवसाय (Determinative and Reflective Judgment)

काष्ठा मात्र के ध्यान में यह निश्चय होता है कि 'काष्ठक वस्तु है'। इस निश्चय का प्रकाश 'काष्ठा वास्तव है' ऐसे उद्देश्य–विधेयात्मक वाक्य में किया तो जा सकता है, पर इस वाक्य में विधेय उद्देश्य से भिन्न नहीं होता। काष्ठा–प्रत्यय वस्तुता–प्रत्यय–रहित नहीं होता। अतएव उक्त वाक्य को मात्र शाब्दिक दृष्टि से ही वाक्य कहा जा सकता है, आर्थिक दृष्टि से नहीं। काष्ठा के विषय में यह निश्चय भी होता है कि 'यह किसी परिच्छिन्न ज्ञेय वस्तु से संबद्ध है'। कहा जा सकता है कि ऐसे निश्चय में काष्ठा का गौण भावेन ध्यान होता है। 'यह विषय इस काष्ठा के अनुरूप है', इत्याकारक निश्चयवाक्य के बारे में यह कहना युक्त होगा कि 'यहां उद्देश्य विधेय से भिन्न है', कारण यह कि विषयज्ञान में सर्वत्र काष्ठानुरूपी ज्ञान नहीं होता। काष्ठा के ऐसे गौण ध्यान को भाषा में उद्देश्यविधेयात्मक वाक्य द्वारा ही प्रकाशित किया जा सकता है। जो निश्चय वाक्य द्वारा अवश्य–प्रकाश्य होता है उसे व्यापक अर्थ में अध्यवसाय कहा जा सकता है। इसी तरह विषयज्ञानात्मक अध्यवसाय से भिन्न ध्यानात्मक अध्यवसाय का भी स्वीकार किया जा सकता है। ज्ञानात्मक अध्यवसाय में प्रकार–विधेय विशेष्य होता है और उद्देश्यविषय विशेषण होता है। 'यह विषय इस काष्ठा के अनुरूप है', इस वाक्य का अर्थ यह होता है कि 'यह काष्ठा मानो इस विषय में प्रकार या विशेषण है'। वस्तुतः यह प्रकार नहीं, विशेष्य–वस्तु होती है – उद्देश्यविषय रूपी उपाधि द्वारा विशेषित विशेष्य–वस्तु। विधेय–विशेषणक ज्ञानवाची वाक्य की अपेक्षा से ऐसे ध्यानवाची वाक्य को विधेय–विशेषक वाक्य कहना उचित होगा (Determinative and Reflective Judgment)। मुख की चन्द्र भावेन कल्पना में जैसे विधेय चन्द्र पदार्थ ही मुख्य होता है, मुख गौण होता है, वैसे ही ज्ञेय विषय की काष्ठा–भावेन कल्पना की जाये तो विधेय कांष्ठा पदार्थ ही मुख्य होता है, विषय गौण होता है। भेद यहां यह है कि पहली कल्पना में निश्चय नहीं होता, पर दूसरी में होता है। दूसरी कल्पना को विधेय–विशेष्यक अध्यवसाय कहा जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

2. आनन्दध्यानानुगत अध्यवसाय – रसात्मक और उपयोगितात्मक (Aesthetic and Teleological Judgment)

परिच्छिन्न विषय की काष्ठा रूपी आत्मा का गौण ध्यान श्रद्धाध्यान या आनन्दध्यान, दोनों प्रकार का हो सकता है। श्रद्धाध्यान में आत्मा आलंबन होती है, और ऐसा निश्चय रूप लेता है कि आत्मा मानो परिच्छिन्न विषय है। आनन्दध्यान में विषय आलंबन होता है, और निश्चय यह होता है कि परिच्छिन्न विषय मानो आत्मा है। कांट ने विधेय–विशेष्यक अध्यवसाय पर विचार की अवतारणा प्रधानतः आनन्दध्यान के प्रसंग में की है। ज्ञानात्मक अध्यवसाय का आलम्बन परिच्छिन्न विषय होता है – ऐसे उद्देश्य–विषय के प्रति प्रकारक्रिया–मूलक अतिविषय प्रत्यभिज्ञा रूपी आत्मा की विधेयता का प्रत्यय ही ज्ञानात्मक अध्यवसाय होता है। प्रभेद यहां यह है कि यहां विधेय विषय का विशेषण होता है, नहीं तो इसके बारे में यह कहा जा सकेगा कि आनन्दध्यानात्मक अध्यवसाय इसका तुल्य प्रत्यय है। हमने विषयज्ञानात्मक अध्यवसाय के सूत्ररूप पर विचार करते हुए कहा है कि ज्ञातविषय का बहिःपरिमाण भी होता है और अंतःपरिमाण भी होता है। साथ ही, अन्य ज्ञात विषय के साथ उसका नित्य कालिक संबंध भी होता है, और यह कालिक संबंध किसी रूपेण 'काल में' होता है : विषय के संबंध में ऐसा इन्द्रिय–निरपेक्ष ज्ञान हमें रहता है। लेकिन ज्ञात विषय का परिमाण कितना होना चाहिये, किसके साथ उसका कालिक संबंध बनता है – ऐसी बातों का निर्देश इस ज्ञान में नहीं होता, क्योंकि ये बातें इन्द्रिय–सापेक्ष हैं। एतत् रूपेण ज्ञात विषय की निखिल समष्टि का नाम जगत् है। यह ठीक है कि प्रकार संबंध से विषय मात्र का इन्द्रिय–निरपेक्ष ज्ञान होता है, पर समष्टि–भूत जगत् के संबंध में इन्द्रिय–सापेक्ष या इन्द्रिय–निरपेक्ष, किसी भी तरह का ज्ञान नहीं होता। जगत् ध्येय पदार्थ है। इसलिये जगत् का ज्ञान तो नहीं होता पर जगत् के संबंध में ध्यानात्मक अध्यवसाय के मूलसूत्र रूप का इन्द्रिय–निरपेक्ष निश्चय होता है – इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। ज्ञानात्मक अध्यवसाय का मूलसूत्र यह है कि 'विषय मात्र में प्रकारगर्भ प्रत्यभिज्ञा रूपी आत्मधर्म की छाया होती है'। और ध्यानात्मक अध्यवसाय का मूलसूत्र यह है कि 'विषय समष्टि या जगत् में स्वप्रकारक विशेष्य रूपी आत्मा की छाया है, अर्थात् जगत् मानो आत्मा की तरह ही अपने आप को प्रकारित करता है'। ज्ञान की दृष्टि से विषय–परिच्छेद अज्ञेय वस्तु में ज्ञात आत्मा द्वारा रचा गया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आभासात्मक प्रकार हैय और ध्यान की दृष्टि से विषय–परिच्छेद आत्मभूत जगत् का स्वरचित प्रकार है – जगत् रूपी स्वकारणक आत्मा का वास्तव व्यापार है।

ज्ञानात्मक अध्यवसाय के स्फुट और अस्फुट, ये भेद माने जा सकते हैं। अस्फुट अध्यवसाय में विषय गृहीत भावेन स्फुट होता है, पर प्रकारित भावेन अस्फुट होता है, अर्थात् उसका प्रकार क्या, यह ज्ञान नहीं होता, प्रकार क्या, यह जानने की आकांक्षा भर होती है। इसके विपरीत, स्फुट अध्यवसाय में विषय प्रकारित भावेन भी स्फुट होता है, अर्थात् यह निश्चय रहता है कि विषय अमुक प्रकार का है। आनन्दध्यानात्मक अध्यवसाय के भी स्फुट और अस्फुट, ये भेद किये जा सकते हैं। यह प्रतीति कि ध्यान का आलम्बन जो विषय–परिच्छेद या आकार है, वह आत्मभूत जगत् का स्वरचित या स्वाभिप्रेत प्रकार या व्यापार है – यह प्रतीति स्फुट भी हो सकती है, अस्फुट भी। अस्फुट प्रतीति में आकार के विषय में, 'इसका प्रकार क्या', इस आकांक्षा का या प्रकार के इंगित मात्र का प्रकाश होता है। ऐसे इंगित रूपी प्रकाश को परिच्छिन्न विषय में जागती रस–स्फूर्ति कहा जा सकता है। यह जगत् रूपी आत्मा का अभिप्राय क्या, इस बात की उपलब्धि नहीं होती, या आकृत के प्रकाश की भी उपलब्धि नहीं होती, पर यह ऐसा वेदनात्मक (भावनात्मक) निश्चय होता है कि 'यह किसी अनिर्दिष्ट अभिप्राय का प्रकाश है'। ऐसे अस्फुट प्रकाश की अनुभूति दो तरह से होती है : क्योंकि अनर्दिष्ट अभिप्राय कहीं कल्पनीय प्रतीत होता है, तो कहीं अकल्पनीय या कल्पनातीत प्रतीत होता है। पहली प्रतीति में विषय में जागती रस–स्फूर्ति को शोभा या सौन्दर्य के नाम से जाना जा सकता है, दूसरी में होती रस–स्फूर्ति को 'महाभाव' कहना चाहिये। विषय की शोभा और महाभाव, एतत् रूपी अस्फुट प्रकाश के निश्चय को रसात्मक अध्यवसाय (aesthetic judgment) का नाम दिया जा सकता है। शोभा और महाभाव, दोनों की अनुभूति आनन्द है। शोभा की अनुभूति आनन्द मात्र हैय महाभाव की अनुभूति दुःखाश्रित आनन्द है। अर्निदिष्ट जगदभिप्राय की कल्पनीय भावेन प्रतीति कौतूहल विशेष होती है– यह कौतूहल एक आभिमानिक क्रिया है जो शोभा रूपी रस–स्फूर्ति के अनुकूल है। जगदभिप्राय की कल्पनातीत भावेन प्रतीति में कौतूहल रूपी अभिमान के निरोध का बोध होता है। यह बोध एक अप्राकृत दुःख विशेष होता है। पर विरोधी भावेन भी यह दुःख महाभाव रूपी रस–स्फूर्ति का आनुकूल्य ही साधता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किसी विषय में जगदभिप्राय की स्फुट प्रतीति का अर्थ–लेता अभिप्राय क्या है, इसका निश्चय अस्फुट प्रतीति के इत्याकारक अध्यवसाय–वाक्य में प्रकाशित किया जाता है। 'यह विषय सुंदर या महत् है'। पर, इसके विपरीत, 'यह विषय अमुक अभिप्राय के लिये उपयोगी है', ऐसा वाक्य स्फुट–प्रतीति–प्रकारक अध्यवसाय–वाक्य होता है। ऐसी स्फुट–प्रतीति को उपयोगिता अध्यवसाय (teleological judgment) कहा जा सकता है। रसात्मक अध्यवसाय को ऐसे अध्यवसाय का अस्फुट रूप कहा जा सकता है – क्योंकि किसी विषय की आनन्दमय प्रतीति आत्मभूत जगत् के अभिप्राय–उपयोगित्व की वेदना (भावना) मात्र होती है। स्फुट उपयोगिता–निश्चय भी आनंद–वेदना ही होता है। पर इस वेदना में बुद्धिक्रिया या प्रकार–कल्पना गर्भीभूत रहती है। आनन्द–ध्यानात्मक अध्यवसाय में जगदभिप्राय ही विषय का ध्येय प्रकार होता है। पर उपयोगिता–निश्चय में उसका विषय–प्रकार रूपेण बोध बना रहता है। रस–निश्चय में ऐसा बोध नहीं रहता। उपयोगिता–निश्चय दो प्रकार का होता है। पहले प्रकार में प्रकृत विषय जिस जगदभिप्रेतार्थ का उपयोगी होता है, वह अभिप्राय विषय से अतिरिक्त या विषय–बाह्य अर्थ के रूप में कल्पित होता हैय दूसरे प्रकार में अभिप्राय तद्–विषय के ही अतिशय या प्रेयः रूप आंतर अर्थ या प्रयोजन के रूप में कल्पित होता है। यह आंतर प्रयोजन आत्मभूत जगत् का अभिप्रेतार्थ ही है, ऐसा कहा जा सकता है। लेकिन प्रकृत विषय के संदर्भ में यह प्रयोजन बाह्य प्रयोजन भी हो सकता है, आंतर भी हो सकता है। जो विषय प्राणवत् होता है वह जगदभिप्राय का उपयोगी होता है, यह बात उस विषय के ही आंतर प्रयोजन या प्रेयः के रूप में कल्पित होती है। इससे इस कल्पना को भी अवकाश मिलता है कि 'सारा जगत् ही प्राणवत् पदार्थ है'। एतत् रूपेण कल्पित जगत् को पूर्वोक्त तृतीय ईश्वर प्रमाण के प्रयोजक के रूप में गृहीत किया जा सकता है।

3. श्रद्धाध्यानानुगत अध्यवसाय–धर्माध्यवसाय (Moral Judgment)

'यह विषय सुंदर या महत् है, इस विषय का अमुक बाह्य या आंतर प्रयोजन है' – इत्याकारक निश्चय को आनन्द–ध्यानात्मक निश्चय कहा जा सकता है। यह अध्यवसाय ज्ञान नहीं होता, ज्ञानेतर निश्चय होता है। श्रद्धाध्यानात्मक अध्यवसाय का वाक्याकार यह है : 'इस संदर्भ में यह कर्म कर्त्तव्य है, या श्रेय है'। हम पहले ही कह चुके हैं कि स्वाधीन कृति विषय की अपेक्षा रखती है। विधि और आत्मा का स्वातंत्र्य एक ही कृत्यात्मक ज्ञान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में ज्ञेय होता है, अतएव विधि भी विषय की अपेक्षा रखती है। कर्म का संदर्भ विषय होता है, संदर्भ–विशेष में विहित कर्म–विशेष भी विषय होता है। विधि इस कर्म–विशेष रूपी विषय की सापेक्ष होती है। 'यह कर्म कर्त्तव्य है', इस प्रत्यय में 'यह कर्म' विषय है, कर्तव्यता या विधि को इसका श्रेयः–रूप प्रकार कहा जा सकता है, और यों इस प्रत्यय को श्रद्धात्मक या धर्मात्मक ध्यान के अनुगत अध्यवसाय का नाम दिया जा सकता है। यह स्वीकार करना आवश्यक है कि आनन्दात्मक अध्यवसाय से इस अध्यवसाय में विशेष अंतर है। यह ठीक है कि दोनों अध्यवसाय विधेय–विशेष्यक हैं, पर आनन्दध्यानानुगत अध्यवसाय में ध्यान का आलंबन उद्देश्य–रूपी 'यह विषय' होता है, जब कि श्रद्धाध्यानुगत अध्यवसाय में उद्देश्य–रूपी 'यह कर्म' ध्यान का आलंबन नहीं होता। आनन्दध्यान में विषय ही आलंबन होता है, पर श्रद्धाध्यान में आलंबन आत्मा होती है। श्रद्धाध्यानात्मक अध्यवसाय में विधेय रूपी श्रेय या विधि स्वतंत्र आत्मा से अभिन्न होती है। अतएव विधेय रूपी विशेष्य ही ध्यान का आलंबन होता है। आत्मा या विधि के ध्यान में ही उसकी विषयांकाक्षा का निश्चय होता है। विधि के पालन में ही विहित कर्म–विशेष रूपी विषय का अनुसंधानात्मक ध्यान प्रवर्तित होता है। धर्म की प्रवर्तना में, 'इस संदर्भ में मेरा धर्म क्या है', ऐसी जिस जिज्ञासा का उद्रेक होता है, वह जिज्ञासा ही यहां ध्यानात्मक विषयाकांक्षा होती है। धर्मध्यान में इस प्रज्ञा का उदय होता है कि 'यह कर्म ही मेरा धर्म है', और यह निश्चय होता है कि यह प्रज्ञा ही उक्त आकांक्षा या जिज्ञासा को तृप्त करेगी। यह निश्चय कि 'यह कर्म धर्म है या श्रेय है', यह निश्चय ही यह है कि 'एतत् कर्म रूपी यह परिच्छिन्न विषय जिज्ञासा रूपी आत्माकांक्षा को पूर्ण कर रहा है'। पर आंनन्दात्मक अध्यवसाय में आत्मभूत जगदभिप्राय रूपी जो विधेय विशेष्य होता है उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी परिच्छिन्न विषय की आकांक्षा रखता है। अपरिच्छिन्न विषय भी अभिप्रेत हो सकता है, यहां तक कि यह भी संभव है कि अभिप्रेत पदार्थ विषय ही नहीं हो। अतएव इस (आनन्दध्यानात्मक) अध्यवसाय में, 'उद्देश्य विषय विधेय आत्मा की आकांक्षा को पूरा कर रहा है', ऐसा निश्चय नहीं होता। जो विषय आत्मा द्वारा अनाकांक्षित हो, उस विषय में आत्मा की स्फूर्ति का जागना, अर्थात् आत्मा की अहेतुक स्फूर्ति ही आनन्द–स्फूर्ति है।

श्रद्धाध्यानात्मक अध्यवसाय आनन्दध्यानात्मक अध्यवसाय की तरह ज्ञानेतर निश्चय नहीं होता। उसे ज्ञान ही कहना चाहिये, पर, हां, यह ज्ञान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय–ज्ञान नहीं होता, यह कृत्यात्मक आत्मज्ञान का ही विस्तार होता है। अध्यवसाय मात्र का रूप यह है। 'यह विषय प्रकार है'। उद्देश्य–विषय सर्वत्र ही गृहीत अथवा इन्द्रिय–प्राप्तव्य विषय होता है, और प्रकार विधेय होता है, जो कि ग्रहण–निरपेक्ष आत्मक्रिया घटित आत्माभास होता है। आनन्दध्यानात्मक अध्यवसाय में विषयगत आत्माभास अहेतुक होता है। इसके विपरीत, ज्ञानात्मक अध्यवसाय में वह सहेतुक होता है – आत्मक्रिया में जो विषयाकांक्षा होती है वह जब गृहीत विषय द्वारा पूर्ण होती है, तभी ज्ञान होता है, अतएव इस आकांक्षा को ही इस संदर्भ में हेतु का नाम दिया जा सकता है। इस संदर्भ में 'विषयाकांक्षा' और 'आकांक्षित विषय', ये दोनों एकार्थक हैं। विषयज्ञानात्मक अध्यवसाय के संदर्भ में इस आकांक्षा का नाम 'सूत्रकाल' है। आत्मज्ञान–भूत श्रद्धाध्यानात्मक अध्यवसाय में इस आकांक्षा को 'सूत्र–जगत्' का नाम दिया जा सकता है। धर्म–प्रवर्तना में इस जगत् के अंतर्गत यह अवश्यंभावी जिज्ञासा उठती है कि 'किस कर्म को करना मेरा धर्म है?' – इस जिज्ञासा को जगत् रूपी धर्मक्षेत्र की सौष्ठवाकांक्षा कहा जा सकता है। 'एतत् क्षेत्रोचित कर्म में ही इस क्षेत्र का – अर्थात् आत्मभूत जगत् का – सौष्ठव या कल्याण है', इस निश्चय–कल्पना की अपेक्षा से रूप लेते कल्याण–मूर्ति रूपी सुष्ठु जगत् की आकांक्षा को 'सूत्र–जगत्' का नाम दिया जा सकता है। ज्ञानात्मक और आनन्दात्मक, दोनों अध्यवसायों में ही 'आत्मा की विषयाकांक्षा पूरी हो रही है', ऐसा विधान–निश्चय जागता है, अतएव दोनों को ही ज्ञान का नाम देना उचित होगा। पर दोनों में प्रभेद यह है कि पहले अध्यवसाय में आकांक्षित सूत्रकाल प्रकारक्रियात्मक आत्मा से अभिन्न होता है, जब कि दूसरे अध्यवसाय में आकांक्षित सूत्रजगत् स्वतंत्र विधि–पालक आत्मा से भिन्न होता है। कांट के मत में काल आत्मा की ग्रहण क्रिया है यह क्रिया आत्मा का ही रूप–विशेष है, पर काल आत्मभिन्न विषय है, इसलिये उसका ज्ञान भर होता है। पर काष्ठाभूत जगत् को काष्ठाभूत आत्मा की क्रिया या रूप–विशेष नहीं कहा जा सकता – उसका प्रत्यय 'यह आत्मा से भिन्न है', इस रूप में ही होता है। अतएव, सूत्रजगत् को आत्मा द्वारा ज्ञेय सूत्राकार नहीं कहा जा सकता, उसे आत्मा का ध्येय प्रतीक ही कहना उचित होगा। कल्याणमय जगत् का धर्म या स्वतंत्र आत्मा के प्रतीक के रूप में ध्यान करने पर जो जगत–निष्ठ कर्मविशेष रूपी विषय रूप लेता है, उस विषय में हमें आत्माभास का ज्ञान होता है, यह ज्ञान ही श्रद्धाध्यानात्मक अध्यवसाय है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(4) निश्चय संग्रह

गृहीत विषय के बुद्धिगोचर प्रकार–निश्चय को अब तक हमने अध्यवसाय का नाम दिया है। विषय का ग्रहण प्रकार–निश्चय से पूर्व होता है, इस अर्थ में वह उद्देश्य–विषय होता है और उसका निश्चय प्रकार–निश्चय से भिन्न होता है और अध्यवसाय को इन दोनों निश्चयों का संयोजक कहा जा सकता है। पर यह संभव है कि विज्ञान–भूत अध्यवसाय संयोजक न भी हो। 'मनुष्य मरणशील है', इस अध्यवसाय में उद्देश्य–निश्चय से विधेय–निश्चय भिन्न है, इसलिये अध्यवसाय यहां संयोजक का काम करता है। पर 'मनुष्य जीव–विशेष है', इस अध्यवसाय में उद्देश्य 'मनुष्य' का निश्चय विधेयभूत 'जीवत्व' के निश्चय के अंतर्भुक्त होता है, इसलिये अध्यवसाय को यहां संयोजक नहीं कहा जा सकता, उसे विश्लेषक कहना होगा। विषयज्ञान रूपी अध्यवसाय को हमने विधेय–विशेषणक कहा है। ऐसा अध्यवसाय अगर विश्लेषक हो तो भी होता विधेय–विशेषणक ही है। उक्त वाक्य में उद्देश्य मनुष्य व्यक्ति है और उसका विधेय जीवत्व विशेषण है। पर अगर मनुष्य–जाति को उद्देश्य कहें तो विधेय जीवत्व–जाति को मनुष्य–जाति का विशेष्य कहना होगा। दोनों जातियां ही मनुष्य–व्यक्ति की विशेषण हैं, लेकिन 'मनुष्यत्व', इस विशेषण की अपेक्षा से 'जीवत्व', यह विशेषण विशेष्य ठहरता है। 'मनुष्य जीव–विशेष है', इस विश्लेषक अध्यवसाय में उद्देश्य मनुष्य–व्यक्ति ही है, लेकिन क्योंकि मनुष्यत्व जाति का निश्चय मनुष्य व्यक्ति के निश्चय से अभिन्न होता है, इसलिये मनुष्यत्व को भी यहां उद्देश्य कहा जा सकता है। और इसलिये उक्त विश्लेषक अध्यवसाय को मुख्यतः विधेय–विशेषणक और गौणतः विधेय–विशेष्यक कहा जा सकता है। ज्ञानात्मक संयोजक अध्यवसाय में उद्देश्य और विधेय अर्थों का संबंध समझना हो तो दोनों अर्थों के बीच सेतुभूत रूपेण सूत्राकार या सूत्र–प्रतीक की कल्पना आवश्यक है। विश्लेषक अध्यवसाय के संदर्भ में ऐसी सेतु–कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं होता। उस संदर्भ में यह कहना उचित होगा कि यहां उद्देश्य प्रत्यय स्वतःसिद्ध है।

हम ऊपर जिस सौत्र–अध्यवसाय का उल्लेख कर आये हैं, वह अध्यवसाय विज्ञानात्मक संयोजक अध्यवसाय होता है। 'ज्ञेय विषय का कोई परिमाण होगा ही', इस सौत्र अध्यवसाय में परिमाणत्व प्रत्यय विषयता प्रत्यय के अंतर्भुक्त नहीं कहा जा सकता। फिर भी 'विषय' के प्रति 'परिमाणत्व' की विधेयता को स्वतःसिद्ध ही कहना होगा, क्योंकि इस विधेयता–ज्ञान के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिये ऐन्द्रिय या इन्द्रिय–प्राप्ति–सापेक्ष ज्ञान का प्रयोजन नहीं होता। ऐसे अध्यवसाय को स्वतःसिद्ध संयोजक अध्यवसाय का नाम दिया जा सकता है। दो सन्निविष्ट आकारों का एक बृहत्तर आकार के रूप में प्रत्यय भी ऐसा ही संयोजक स्वतःसिद्ध अध्यवसाय होता है। पर स्वतःसिद्ध होने पर भी ऐसे अध्यवसाय में उद्देश्य और विधेय का अर्थ समझना हो तो सूत्रकाल रूपी सेतु की कल्पना आवश्यक होती है। 'मनुष्य जीव–विशेष है', इस विश्लेषक अध्यवसाय में मनुष्य–व्यक्ति के साथ जीवत्व का संबंध कालिक संबंध है, पर मनुष्यत्व और जीवत्व का संबंध कालिक भावेन ज्ञेय नहीं है। अतएव, कहा जा सकता है कि यहां सूत्रकाल–कल्पना की भी आवश्यकता नहीं है। उक्त विश्लेषक ज्ञानात्मक अध्यवसाय स्वतःसिद्ध होता है, और एक भाव से उसका ग्रहण विधेय–विशेष्यक रूपेण किया जा सकता है – यह बात हम कह आये हैं। ध्यानात्मक आध्यवसाय मात्र ही संयोजक, स्वतःसिद्ध और विधेय–विशेष्यक अध्यवसाय होता है। आनन्दध्यानात्मक अध्यवसाय ज्ञानेतर निश्चय मात्र होता है। अतएव संयोजक होते हुए भी उसमें संयोग–विधायक सेतु–कल्पना नहीं होती। श्रद्धाध्यानात्मक अध्यवसाय विषय–ज्ञान का अध्यवसाय तो नहीं होता, पर उसे आत्मज्ञान कहा जा सकता है। आत्मज्ञानात्मक संयोजक अध्यवसाय में सूत्र–जगत् रूपी प्रतीक संयोग–विधायक सेतु के रूप में कल्पित होता है। कृति–स्वरूप आत्मा का ज्ञान ही होता है, अध्यवसाय नहीं होता। आत्मज्ञानात्मक अध्यवसाय में कृत्यात्मक आत्मा का विषय के साथ संबंध का ज्ञान होता है, लेकिन यह संबंध–ज्ञान विषय–ज्ञान नहीं होता, आत्मज्ञान का ही विस्तार होता है। काष्ठाभूत आत्मा, जगत् और ईश्वर, इनका ध्यान–निश्चय नहीं होता, न ज्ञान होता है, और न ध्यानात्मक अध्यवसाय होता है। निश्चय–परीक्षा भी श्रद्धात्मक अध्यवसाय और कृत्यात्मक आत्मज्ञान का विस्तार ही होती है। लेकिन यह विस्तार संयोजक अध्यवसाय नहीं होता। वह उक्त आत्मज्ञान का विश्लेषण भर होता है। **(ग्रंथ पूरा हुआ)**

ए–37/38, विश्वामित्र मार्ग
श्यामनगर, अजमेर रोड, जयपुर-302019

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

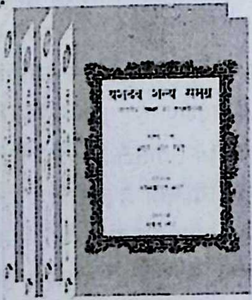

यशदेव शल्य समग्र

मानवीय सर्जना की तत्त्वमीमांसा

चार ग्रन्थों में

सम्पादक : अम्बिकादत्त शर्मा

प्रस्तावना : मुकुन्द लाट

4 vols., 2015, 25 cm.

Vol. 1: Jñāna aur Sat, xxxviii, 410 p.; ISBN: 978-81-246-0880-7

Vol. 2: Cit aur Mūlya, xxxviii, 460 p., ISBN: 978-81-246-0881-4

Vol. 3: Samāja aur Saṁskṛti, xxxviii, 410 p., ISBN: 978-81-246-0882-1

Vol. 4: Dārśanika Itihāsa-Dṛṣṭi, xxxviii, 382 p.; ISBN: 978-81-246-0883-8

ISBN 978-81-246-0879-1 (set) **₹ 6400 (set) ₹ 1600 (each vol.)**

श्री अरविन्द के बाद इस देश में दार्शनिक गतिविधियों से सघन सरोकार रखने वाले बहुतेरे विद्वानों को "भारत का दार्शनिक" तो कहा जा सकता है परन्तु एक "संस्थापक भारतीय दार्शनिक" की पदवी से स्वातन्त्र्योत्तर भारत में केवल यशदेव शल्य ही अभिहित किए जा सकते हैं। भारत के वैचारिक स्वराज को राष्ट्रभाषा हिन्दी के राजपथ पर अग्रसर करते हुए उन्होंने जो दार्शनिक स्थापनाएँ की हैं, वह न केवल एक अनुपम बौद्धिक सम्पदा है, बल्कि पाश्चात्य विचारों के अन्तराय से सींची हुई समसामयिक औपनिवेशिक भारतीयता का अपवाद भी है। यशदेव शल्य का दर्शन एक ओर मानवीय सर्जना की चिदद्वैतवादी तत्त्वमीमांसा है, तो दूसरी ओर आधुनिक सभ्यता को उसके वर्तमान संकटों से उबारने की सृजनात्मक दार्शनिक पहल भी है। आत्मचेतन चित् की आत्मव्यवधान-निवारक पुरुषार्थ-साधना के रूप में दर्शन, धर्म, नीति, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, कला और मनुष्य की वैज्ञानिक प्रवृत्ति की व्याख्या करने वाला यशदेव शल्य का दर्शन एक ऐसी दार्शनिक उपलब्धि है, जो "समकालीन भारतीय दर्शन" को अकेले दम पर सार्थकता प्रदान करती है। "यशदेव शल्य समग्र" के अन्तर्गत "ज्ञान और सत्", "चित् और मूल्य", "समाज और संस्कृति" तथा "दार्शनिक इतिहास-दृष्टि" नामक चार खण्डों में यशदेव शल्य के अर्द्धशताब्दी से भी अधिक की अनुसन्धान-यात्रा को एक स्वतन्त्र और सम्पूर्ण दार्शनिक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया गया है। भारतीय चिन्तन में रुचि रखने वाले किसी भी व्यक्ति, संस्था अथवा पुस्तकालय के लिए "यशदेव शल्य समग्र" के चारों खण्डों का संग्रह एक अमूल्य धरोहर के समान होगा।

Place your orders / enquiries with

D.K. Printworld (P) Ltd.
E-mail: indology@dkprintworld.com

NEW DELHI - 110 015.
Web: www.dkprintworld.com

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ISSN 0974 0053